जैन भारती

वर्ष 53 • अंक 12 • दिसंबर, 2005

With Best Compliments From :

GIRIAS

The Consumer Durable People

The Undisputed No. 1 in Karnataka for Television and Home Appliances

BANGALORE **4 world class Showrooms**

Gandhinagar ☆ **Brigade Road** ☆ **Sadashivnagar** ☆ **Jayanagar**

Gandhinagar	Brigade Road	Sadashivnagar	Jayanagar
Ph : 2264551	Ph : 2228032	Ph : 3619195	Ph : 6566140
2204189	2270126	3619196	6566141
Fax : 2262123	Fax : 2235555	Fax : 3611448	Fax : 6566142

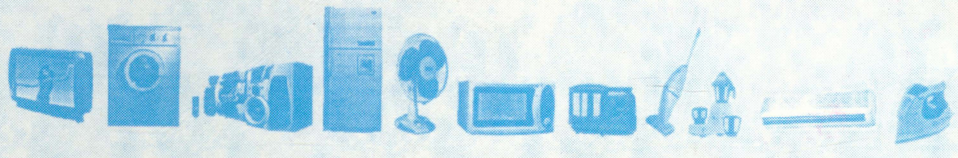

COIMBATORE **2 world class Showrooms**

Dr. Nanjappa Road
Ph : 233059
Fax : 231675

Cross Cut Road
Ph : 236486
Fax : 236487

MANGALORE
NALPAD APSARA CHAMBERS
K. S. Rao Road, Hampan Katta
Tel. : 2442220, 2442880

TIGER 388292

KARNATAKA FILATEX
(Mfrs. of H.D.P.E Woven Fabric)
Magadi Chord Road, BANGALORE 560079
Ph. 23353714

GIRIAS UTTARANCHAL TEA

UTTARANCHAL TEA CO. PVT. LTD.
Pingalkot, Post. Kausani
Dist. Bageshwar, Uttaranchal
Ph. : 059 62 45330 / 331 Fax : 45314

SONY BPL SAMSUNG ELECTRONICS LG IFB SHARP Electrolux Kelvinator VIDEOCON Whirlpool ONIDA PHILIPS

Godrej THOMSON SANSUI AIWA USHA LEXUS FORBES GLEN APPLIANCES BRAUN MAHARAJA Kailash ULTRA GRIND

शुभू पटवा
मानद संपादक
•
बच्छराज दूगड़
मानद सह-संपादक

जैन भारती

वर्ष 53 • दिसंबर, 2005 • अंक 12

प्रसंग

5
शुभू पटवा
आस्था, अवलंबन और विवेक

विमर्श

9
आचार्यश्री महाप्रज्ञ
अनासक्त कर्म : अध्यात्मवाद

14
दयालचन्द्र सोनी
शिक्षा : नैतिकता की कसौटी

18
साध्वी (डॉ.) योगक्षेमप्रभा
शब्द : एक विमर्श

अनुभूति

23
स्वामी विवेकानंद
जन्माद्यस्य यतः

28
समणी हिमप्रज्ञा
सहजीवन : साझा विकास

31
साध्वी श्रुतयशा
अन्येन सह आत्मनः योजनम्

35
कहानी
रघुवीर सहाय
कीर्तन

38
कविता
नवीन सागर की कविताएं

शीलन

41
समणी सत्यप्रज्ञा
उम्र का असर : कब, किस रूप में

45
साध्वी सिद्धप्रज्ञा
साधना के लिए गृह-त्याग : एक विवेचन

49
लियो टॉलस्टाय
सत्य : जीवन का कानून

52
बालकथा
मकरन्द दवे
फटी आंख सुंदरानंद

•
आवरण
अडिग

संपादकीय पता : संपादक, जैन भारती, भीनासर 334403, बीकानेर • फोन : 2270305, 2202505
प्रकाशकीय कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, तेरापंथ भवन, महावीर चौक, गंगाशहर, बीकानेर 334401
प्रधान कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता 700001
सदस्यता शुल्क : वार्षिक 200/- रुपये • त्रैवार्षिक 500/- रुपये • दसवर्षीय 1500/- रुपये

सामायिक की सुरक्षा

कोई कहता है—'सामायिक में शरीर का प्रमार्जन कर खुजलाना धर्म है और शरीर का प्रमार्जन किए बिना उसे खुजलाता है, तो उसे पाप लगता है।'

तब स्वामीजी बोले—'चींटी और मच्छर सामायिक में काट खाए, तो शरीर को काटा या सामायिक को?'

तब वह बोला—'शरीर को काटा।'

तब स्वामीजी बोले—'शरीर का प्रमार्जन करके खुजलाता है, तो वह सुरक्षा सामायिक की करता है, या शरीर की?'

तब वह विपरीत मान्यता के आधार पर बोला—'सुरक्षा सामायिक की करता है।'

तब स्वामीजी बोले—'वह नहीं खुजलाता, तो सामायिक की सुरक्षा तो और ज्यादा होती। तो बिना प्रमार्जन किए खुजलाने का त्याग है। सामायिक में प्रमार्जन किए बिना शरीर को नहीं खुजला सकता। यदि शरीर को न खुजलाता, मच्छर आदि के काटने को सहन करता, तो निर्जरा अधिक होती। उससे सामायिक और अधिक पुष्ट होता। इस दृष्टि से जो शरीर का प्रमार्जन करता है, वह सामायिक की सुरक्षा के लिए नहीं करता। मच्छर ने शरीर को काटा, सामायिक को नहीं काटा, ये तो वे भी कहते हैं। शरीर की सुरक्षा के लिए उसका प्रमार्जन करते हैं और उसे खुजलाते हैं, किंतु सामायिक की सुरक्षा के लिए प्रमार्जन नहीं करते। ढाई द्वीप (मनुष्य-क्षेत्र) के बाहर समुद्रों में रहने वाले तिर्यंच श्रावक सामायिक और पौषध व्रत का अभ्यास करते हैं, वे कौन-सी प्रमार्जनी रखते हैं? सामायिक की सुरक्षा वे भी बहुत सावधानी से करते हैं। अयतना (असंयम) न करना ही सामायिक की सुरक्षा है। •

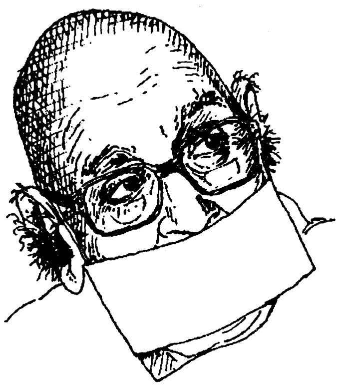

देश की वर्तमान परिस्थितियों पर एक तटस्थ चर्चा—चिंतन होना चाहिए और इस बात पर गहराई से ध्यान केंद्रित करना चाहिए कि इस चिंतन में प्राथमिकता 'जन' को दी जाए। राष्ट्रवाद की संकीर्ण दीवारों में जो संज्ञा-संवेदन जन्म लेता है, अंततः उसकी पहचान सर्व-सम्मत से नहीं हो सकती। इस दृष्टि से मैं विशेष महत्त्व 'जन' को ही देता हूं। यद्यपि आज जगह-जगह जनतंत्र अस्तित्व में आए हैं। पर, जिस तरह से वे काम कर रहे हैं, उनमें 'जन' पीछे छूट गया है तथा 'तंत्र' आगे आ गया है। भिन्न-भिन्न रूपाकारों में एक प्रकार से वह 'पार्टी-तंत्र' ही बन गया है। इसी से हिंसा भड़कती है तथा समस्याएं खड़ी होती हैं।

यद्यपि कुछ अबूझ-अनजान लोगों के लिए 'तंत्र' की आवश्यकता से इनकार नहीं किया जा सकता है। पर, 'तंत्र' के व्यास-पीठ पर जो व्यक्ति बैठता है उसकी दृष्टि 'जन' पर होनी चाहिए। 'तंत्र' या 'पार्टी' पर नहीं। गांधीजी ने भी 'जन' को ही जगाने की कोशिश की थी, पर उनके पीछे से सारी बातें भुला दी गईं। इसी का परिणाम है कि आज एक गहरे संकट का कुहरा सब जगह मंडरा रहा है।

—आचार्यश्री तुलसी

दुनिया में कलह के अनेक कारण हैं, उनमें एक कारण मत का दुराग्रह भी है। अर्थहीन आग्रह कितना नुकसानदेह होता है, यह कौन नहीं जानता।

आदमी को अपने नियम-व्रत में अवश्य आग्रह रखना चाहिए, यानी उसके पालन में दृढ़ता रखनी चाहिए। दृढ़ता भी यहां तक कि मरना मंजूर, पर नियम को नहीं तोडूंगा। इस आग्रह की तुलना श्रद्धा और निष्ठा के साथ की जा सकती है। निष्ठा-आस्था जो अच्छे तत्त्वों में होती है, उसे सदाग्रह कहा जा सकता है। सदाग्रह ग्राह्य है, कदाग्रह त्याज्य है। सदाग्रह में शक्ति होती है, बल होता है। इसे कट्टरता भी कहा जा सकता है। पर, वह कट्टरता वांछनीय नहीं जिसके द्वारा हिंसा को महत्त्व दिया जाता है। एक बात को सत्य मानकर आदमी स्वीकार करता है, पर असत्यता स्पष्ट प्रतीत हो तो उसे छोड़ने में संकोच भी नहीं होना चाहिए। यद्यपि यह साहस आसान नहीं है।

—युवाचार्यश्री महाश्रमण

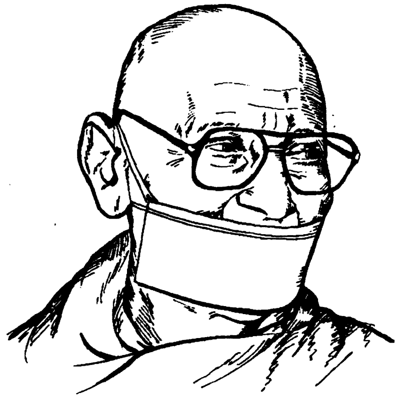

वैचारिक विकास के लिए विचारों की स्वतंत्रता बहुत आवश्यक है, इसी आधार-बिंदु पर भारत में अनेक दर्शनों ने जन्म लिया। कुछ मुख्य दर्शन हैं, पर उनके उपजीवी दर्शन अनेक हैं। बहुत लोग सोचते हैं कि अनेक धर्म-दर्शनों के बीच रहता मनुष्य दिग्भ्रांत हो जाता है। ऐसा नहीं है। मनुष्यों की रुचि भिन्न होती है। अपनी रुचि और विचार के अनुसार धर्म-दर्शन की स्वीकृति बहुत लाभप्रद होती है। यह गौरव की बात है कि भारत में विचारों का इतना विकास हुआ कि यहां अनेक धर्म-दर्शन विकसित हुए। यहां सैकड़ों विचारक-दार्शनिक हुए हैं, जिन्होंने भिन्न-भिन्न दर्शनों का प्रचार-प्रसार किया। भिन्न-भिन्न दर्शनों का होना कोई विरोधी बात नहीं है।

क्या सब विचारों को एक कर दिया जाए? क्या सब दर्शनों को एक कर दिया जाए? ऐसा करना संभव भी नहीं है और अच्छा भी नहीं है। यदि सब एक हो जाएं या कर दिए जाएं तो संभवतः दर्शन के क्षेत्र में दुर्भिक्ष लाने जैसी बात होगी। चिंतन दरिद्र हो जाएगा।

एक बार राजा भोज के मन में यह विचार आया कि इतने धर्मगुरु और इतने धर्म-संप्रदाय हैं, इन सबकी क्या आवश्यकता है? धर्म का ही तो उपदेश देना है। सबको एक हो जाना चाहिए। राजा ने यह बात धर्मगुरुओं से कही। धर्मगुरुओं ने कहा—'सबका एक होना असंभव है।' राजा ने सबको कारावास में डाल दिया।

जैन आचार्य सुराचार्य ने यह बात सुनी। वे राजा भोज के पास गए और धर्मगुरुओं को कारावास में डाल देने की पूरी घटना जानी। सुराचार्य से बातचीत के दौरान राजा भोज ने पूछा—'महाराज! धारानगरी कैसी लगी?' आचार्य बोले—'धारानगरी बहुत सुंदर है। पर अलग-अलग दूकानें हैं, यह अच्छा नहीं लगता। यदि इस नगरी में एक ही दूकान होती तो अच्छा रहता।' राजा बोला—'गुरुदेव! आप नहीं जानते, उपभोक्ताओं को कितनी-कितनी वस्तुएं चाहिए? एक ही दूकान से उन सब चीजों का मिलना असंभव है। उनको खरीद पाना भी असंभव है। अलग-अलग चीजें और अलग-अलग आवश्यकताएं।'

सुराचार्य बोले—'राजन! तुम इस बात को असंभव मानते हो तो फिर विचारों के ग्राहक क्या अलग-अलग नहीं हैं? अलग-अलग विचार हैं और अलग-अलग ग्राहक। इस स्थिति में विचारों का एक हो जाना कैसे संभव हो सकता है? कोई भक्तिवाद में, कोई कर्मकांड में और कोई ज्ञानवाद में रस लेता है। सबको एक कैसे कर दें? क्या एक संप्रदाय से काम चल जाएगा?' बात राजा के गले उतर गई और उसने सभी धर्माचार्यों को मुक्त कर दिया।

सभी विचार एक हो नहीं सकते। असंभव है। यदि संभव होगा तो दुर्भाग्य होगा, चिंतन का दुर्भिक्ष होगा।

विचार की स्वतंत्रता, रुचि और चिंतन की स्वतंत्रता का होना बहुत जरूरी है। पक्षी अनंत आकाश में उड़ना पसंद करता है। वह पिंजरे में बंद होना नहीं चाहता। यदि सभी पक्षियों को पिंजरे में बंद कर दिया जाए तो पेड़ निरर्थक हो जाएंगे। उस स्थिति में न जाने कितने पक्षी जीएंगे और कितने मर जाएंगे।

—आचार्यश्री महाप्रज्ञ

जैन भारती
दिसंबर, 2005

प्रसंग

आस्था, अवलंबन और विवेक

जीवन में अवलंबन आवश्यक है। कैसा ही अवलंबन हो, यह आवश्यक है और लगता है कि किसी भी स्तर पर पहुंचा व्यक्ति हो, कोई-न-कोई अवलंबन अवश्य उसका रहता है। कोई व्यक्ति मानसिक रूप से अपरिपक्व भी हो सकता है और अपने ही अवलंबन को स्वयं ही ठीक से न भी समझ सकता हो, पर उसका भी अवलंबन तो कोई होता ही है। लेकिन वे लोग, जिनका विवेक जागृत है, जिनकी चेतना पूरी तरह विकसित है—क्या बिना किसी अवलंबन के उस स्तर तक पहुंच पाए हैं? यह भी कहा जा सकता है कि अवलंबन प्रकारांतर से एक तरह का संबल है जिस पर व्यक्ति अडिग टिका रह सकता है। तब एक सवाल खड़ा होता है कि लोग गड्ड-मड्ड भी तो हो जाते हैं। तब संबल कहां चला जाता है? तब अवलंबन का क्या हो जाता है? यहीं आस्था और निष्ठा की बात सामने आती है कि हमारी आस्था-निष्ठा कितनी अडोल है। अपनी आस्था के प्रति, अपनी निष्ठा के प्रति हमारे मन में कितना दृढ़ विश्वास है।

एक दूसरा पक्ष भी है कि स्थूल रूप से जो-कुछ हम देखते हैं, हमारी धारणा आमतौर पर उसी आधार पर बनती-टूटती है और जो गड्ड-मड्ड होते नजर आते हैं, वे भी क्या उसी स्थूल दृष्टि के आधार पर ही नजर नहीं आते? अमूमन यही होता है और उसी आधार पर निष्कर्ष भी निकाले जाते हैं। व्यक्ति के मन की अंतःक्रियाओं को गहराई से झांक कर देख पाना सामान्यतः कठिन होता है। देखने की यह कोशिश भी सामान्यतः कहां होती है और हर किसी के लिए यह आवश्यक भी क्यों है?

हम सामान्य को एक बार छोड़ दें, पर वे लोग, जो सामान्य से अलग दर्जा प्राप्त हैं और जिनका विचार-व्यवहार लोक को प्रभावित करता है—उनकी ओर थोड़ी नजर करें। वे अगर गड्ड-मड्ड हो जाते हैं तो उनकी आस्था-निष्ठा के प्रति क्या सोचा जाए? यहां फिर विवेक की बात ही आती है। संत कबीर तो यहां तक कहते हैं—'मानुष ताहि जानिए, जामें विनय विवेक', तो क्या यह मान लिया जाए कि जो गड्ड-मड्ड हो जाते

हैं—वे मनुष्य ही नहीं हैं? आज के हालात में ऐसी मान्यता बड़ी क्रूर हो जाएगी, पर ऐसी कठोरता को न मानना भी पतन की ओर अग्रसर ही होना होगा और किसी हद तक आज का हमारा समाज इसी ओर अग्रसर है। पर, यह अति निष्ठुर और क्रूर विचार होगा और हम पाते हैं कि किसी भी काल में पूर्णतः ऐसा संभव नहीं रहा। इस काल में भी नहीं। इसीलिए यह एक चिंतनीय सवाल है कि वह वर्ग, जो लोक को किसी-न-किसी रूप में प्रभावित करता है, उसकी आस्था-निष्ठा किसी सूरत में छिछली न हो—उसकी दृढ़ता और संकल्पबद्धता स्पष्ट परिलक्षित हो—यह जरूरी है।

जो वर्ग या समाज लोक को प्रभावित करता है, उसमें मुख्यतः दो वर्ग माने जा सकते हैं। संत समाज और समाज-नीति निर्धारक वर्ग। संत समाज में वे लोग आते हैं जो घर-गिरस्ती छोड़ अपनी साधना में लगे हैं और साथ ही समाजोत्थान के लिए भी सक्रिय हैं। इस वर्ग में हम उनको भी शामिल कर सकते हैं जो अपनी घर-गुवाड़ी को देखते-सम्हालते हुए भी उसके 'जंजाल' से विरक्त हैं, मुक्त हैं और अपना पुरुषार्थ समाजोद्धार, परोपकार में लगाए हैं। दूसरा समाज है— नीति-निर्धारकों का; और इस वर्ग में शासक वर्ग से लेकर शिक्षक वर्ग भी आ जाता है। ये दोनों वर्ग—संत समाज और नीति-निर्धारक समाज—जब तक एक-दूसरे पर अवलंबित रहे, तब तक गड्ड-मड्ड होने की स्थितियां कम ही दिखाई देती रही हैं। खासतौर से शासक वर्ग पर परोक्ष नियंत्रण लगा रहा और उसी आधार पर नीति-निर्धारण भी होता रहा। इन स्थितियों में जब से बदलाव आया तभी से विकृतियां हावी होने लगीं। शासक वर्ग पर जब 'बाजार' का प्रभाव पड़ना शुरू हुआ और नीति-निर्धारण में ज्यों-ज्यों 'बाजार' का दखल बढ़ने लगा—स्थितियां बदतर होने लगीं। आज हम देख रहे हैं कि विश्व व्यापार संगठन या अंतरराष्ट्रीय बाजार दुनिया-भर में हावी हैं और वे ही नीति-निर्धारण करते हैं।

पहला वर्ग, जिसे यहां संत समाज कहा गया है—जिसमें साधनारत साधु-संन्यासी भी हैं और गिरस्ती को सम्हाले हुए निसंग सुधिजन भी हैं—देखना उन्हीं की ओर है कि वे कितने आस्थाशील हैं? अपनी निष्ठाओं, विचारों-सिद्धांतों के प्रति वे कितने निष्ठाशील हैं? वे समाज के सर्वाधिक सजग प्राणी हैं, सर्वाधिक चेतना-संपन्न हैं, विवेकशील हैं। यह सोचा भी नहीं जा सकता कि उनकी आस्था-निष्ठा 'बाजार' के दबावों के आगे डोल जा सकती है, कि वे विवेक-च्युत हो सकते हैं और विचारों की दृढ़ता 'बाजार' की ताकत के आगे क्षणभंगुर हो जा सकती है?

अब एक बात और, जब प्रश्न विचार का आता है तो व्यक्ति के प्रति आस्था की बात का भी क्या कोई मानी है? व्यक्ति और विचार में से यदि चुनाव करना हो तो किस तरह किया जाए? देखा गया है कि कई बार व्यक्ति और विचार में भेद नहीं किया जाता। जो पूजनीय हैं, समाज जिनसे अनुप्रेरित होता है, जो मार्गदर्शक हैं, द्रष्टा हैं—उनमें और विचार में भेद नहीं किया जा सकता। यहां फिर एक प्रश्न उपस्थित होता है कि विचार के आधार पर जब किसी की 'मूरत' गढ़ ली गई होती है, तो पूजनीय वह 'मूरत' होती है या विचार? हम देखते हैं कि 'मूरत' के प्रति हमारे समाज में गहरी, अंधी आस्था व्याप्त है। कहा भी गया है कि आस्था के आंख नहीं होती, वह अंधी होती है। पर, वे विचारशील लोग, जो अपने विचार, अपने दर्शन या अपनी दृष्टि के प्रति पूर्ण निष्ठाशील हैं—वे इस ओर भी सचेत रहते ही हैं कि उनकी 'मूरत' न गढ़ी जा सके। उनकी 'मूरत' न गढ़ी जा सके—इस ओर उनकी नजर रहती है। हमारा अपना भारतीय समाज ही इसका प्रमाण है कि कई ऐसे ऋषि-महर्षि, विचारक-चिंतक हुए हैं, जिन्होंने इस तरह से गढ़ी 'मूरत' का भंजन किया है। जबकि उनके विचार बेशक आज जीवित हैं और समाज के दिशा-सूचक माने जाते हैं। ऐसे विचारों के अनुयायी भी उस विचार-धारा की 'कारा' में नहीं माने जा सकते, बल्कि वे ही उस विचार के प्रवाह के वाहक होते हैं। विचार-धारा वही जीवंत कहलाती है, जो निरंतर प्रवहमान है। वास्तविक तौर पर वही सच्चा, श्रेष्ठ और सुदृढ़ अवलंबन कहा जा सकता है, जो हर व्यक्ति को चाहिए।

ऐसी श्रेयस् स्थितियां-परिस्थितियां क्षत-विक्षत होती जा रही हैं। संत समाज और नीति-निर्धारक वर्ग, दोनों ही, के सामने यह ज्वलंत प्रश्न है। जो परिस्थितियां हमारे सामने विद्यमान हैं और निजी क्षुद्रताओं के चलते जैसे गला-काट छल-छद्म चल रहे हैं—उन पर नियंत्रण का एक ही उपाय है कि 'मूरत' को गढ़ने की बनिस्बत विचारों की दृढ़ता को बलवती बनाया जाए। यही आस्था और निष्ठा की सुदृढ़ता है और इसी में कबीर की वाणी—मानुष ताहि जानिए, जामें विनय विवेक—के फलितार्थ निहित हैं।

—शुभू पटवा

विमर्श

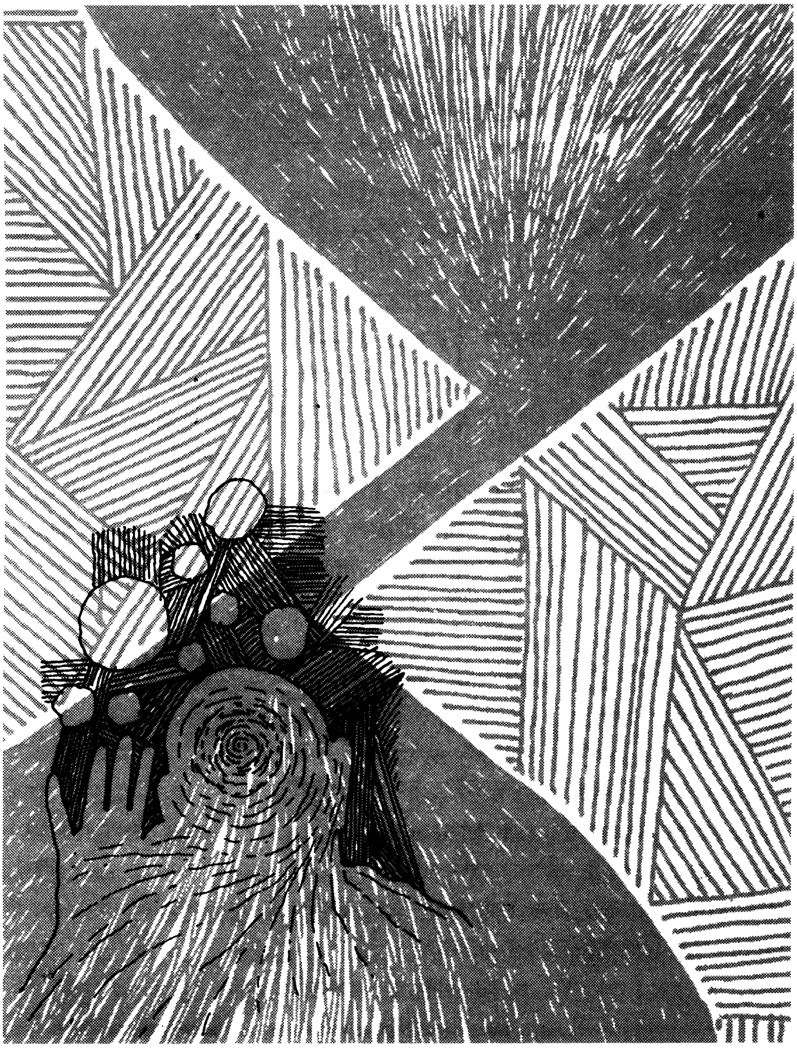

भाषा स्वभावतः सामाजिक सामग्री है और उसके वैयक्तिक संचय का प्रश्न ही अस्वाभाविक है। मनुष्य शेष प्राणियों से अपनी जिस मनस्विता के आधार पर श्रेष्ठ होने का गर्व करता है, उस मन का वह अधिकरण है और जिस आत्मवत्ता के कारण वह सच्चिदानंद का अर्हत् पात्र है, भाषा को उस आत्मा का अन्न कहा गया है। औजार बनाने और चलाने वाले सामाजिक प्राणी के रूप में मनुष्य के प्रसंग में, कहते हैं कि श्रम के क्रम में हाथ और मन के साथ भाषा भी उपज आई और इसलिए कर्म और चिंतन की वह यमजा सहोदरा है। पंचतत्त्वों में सर्वाधिक सूक्ष्म आकाश तत्त्व का गुण होकर वह प्रत्येक अभिधेय का अभिधान ही नहीं करती, उनके उपादान में भी सतत विद्यमान रहती है।

—विजयदेव नारायण साही

दो प्रश्न हैं। पहला प्रश्न है—कार्य कब करना चाहिए? जब आवश्यकता हो, तब कार्य करना चाहिए। दूसरा प्रश्न है—कार्य क्यों करना चाहिए? कार्य जीवन-यात्रा को चलाने के लिए करना चाहिए। प्रवृत्ति के बिना जीवन-यात्रा नहीं चलती, इसलिए प्रवृत्ति करनी होती है। ये दो उद्देश्य हो सकते हैं।

तीसरा प्रश्न है—कर्म कैसे करना चाहिए? यह भी महत्त्वपूर्ण बात है। यहां भी अध्यात्मवाद या कर्मवाद का रहस्य उद्घाटित होता है। जिस व्यक्ति ने कर्मवाद को नहीं समझा, उसने अध्यात्म को नहीं समझा। जिसने अध्यात्म को नहीं समझा, उसने कर्मवाद को नहीं समझा। दोनों परस्पर जुड़े हुए हैं। अध्यात्मवाद का मत है कि कर्म राग-द्वेष-रहित भाव से होना चाहिए।

❑ ❑❑❑

❑ अनासक्त कर्म : अध्यात्मवाद

❑ आचार्यश्री महाप्रज्ञ

कर्म का सिद्धांत बहुत सूक्ष्म है। उसके नियमों को समझने में बहुत कठिनाई होती है। स्थूल बुद्धि से वे नियम समझ में नहीं आ सकते। आज के आनुवंशिकता के सिद्धांत ने कर्म-सिद्धांत को समझने में सुविधा दी है और प्रवेश-द्वार खोला है। 'जीन' आनुवंशिक गुणों के संवाहक होते हैं। व्यक्ति-व्यक्ति में जो भेद दिखाई देता है, वह 'जीन' के द्वारा किया हुआ भेद है। प्रत्येक विशिष्ट गुण के लिए विशिष्ट प्रकार का 'जीन' होता है। आनुवंशिकता के ये नियम कर्मवाद के संवादी नियम हैं। कर्मवाद इनसे एक चरण और आगे है। कर्म परमाणु का संवहन करते हैं। व्यक्तिगत भेद का मूल कारण है—कर्म। 'कम्मओणं विभत्ति भावं जणयई'—सारे विभेद कर्मकृत होते हैं।

प्रत्येक जैविक विशेषता के लिए विशेष कर्म उत्तरदाई होता है। तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाए तो आनुवंशिकता, 'जीन' और रासायनिक परिवर्तन—ये तीनों सिद्धांत कर्म के ही सिद्धांत हैं। आनुवंशिकता के सिद्धांत के आधार पर कर्मवाद को जानने में एक कदम आगे बढ़ा जा सकता है। 'जीन' हमारे स्थूल शरीर का अवयव है और कर्म हमारे सूक्ष्मतर शरीर का एक अवयव है। दोनों शरीर से जुड़े हुए हैं—एक स्थूल से और दूसरा सूक्ष्मतर शरीर से। यह सूक्ष्मतर शरीर कर्म-शरीर है। विज्ञान के माध्यम से नई-नई खोजें निरंतर हो रही हैं। एक दिन यह तथ्य भी अनुसंधान से सामने आ जाएगा कि 'जीन' केवल माता-पिता के गुणों या संस्कारों का ही संवहन नहीं करते, ये हमारे किए हुए कर्मों का भी प्रतिनिधित्व करते हैं। ये 'जीन' कर्म से भी जुड़े हुए हैं। अभी तक यह तथ्य खोजा नहीं गया, पर बहुत संभव है कि यह शीघ्र खोज लिया जाएगा।

स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाना, सूक्ष्म सत्यों और नियमों की खोज करना ज्ञान का संवर्धन है। आदमी का आचरण और व्यवहार भी उससे बदलता है। सूक्ष्म सत्यों और नियमों को जानना बहुत आवश्यक है। इन को जानने का महत्त्वपूर्ण प्रयोग ध्यान है। जिन लोगों ने नियमों को जानने का प्रयत्न किया, जिनने सूक्ष्मता का आलंबन लिया—फिर चाहे वे नियम विज्ञान के हों या अध्यात्म के, या अन्य किसी के—उनके ज्ञान का विकास अवश्य ही हुआ है। नियमों की जानकारी चैतसिक विकास के द्वारा भी की जा सकती है और सूक्ष्म यन्त्रों के द्वारा भी की जा सकती है। सूक्ष्म को जानने के लिए सूक्ष्म का अवलंबन लेना जरूरी है।

ध्यान-साधना के लिए सूक्ष्म चर्चा आवश्यक होती है। ध्यान सूक्ष्म की खोज है। स्थूल बुद्धिवाला आदमी स्थूल बात में अटका रह जाता है। बालक स्थूल बात पर अटक सकता है। 'बाल' शब्द के दो अर्थ होते हैं—छोटी

अवस्था वाला और अज्ञानी। जिसका ज्ञान विकसित नहीं होता, वह भी बाल है। 'बाल' व्यक्ति सूक्ष्म की खोज में नहीं जा पाता।

बच्चा मिठाई चुरा रहा था। बहन बोली—भैया! तुम मिठाई चुराते हो, अम्मा तो नहीं देख रही हैं, पर भगवान तो देख रहे हैं। भगवान से तो डरो। बच्चा बोला—भगवान भले ही देखें। क्या फर्क पड़ता है! वे अम्मा को कहने नहीं आते। फिर मुझे चिंता ही क्या है? बच्चा स्थूल को ही पकड़ सकता है, सूक्ष्म को नहीं।

जिस व्यक्ति का ज्ञान परिपक्व और विकसित हो गया है, ध्यान के द्वारा जिसकी चेतना परिष्कृत हो गई है, वह सूक्ष्म सत्यों और सूक्ष्म नियमों की खोज करेगा। वह नियति को, मूल नियमों को पकड़ेगा। कर्म एक नियति है, नियम है। कर्म के द्वारा अतीत को पढ़ा जा सकता है और भविष्य को समझा जा सकता है।

कर्म के दो विभाग हैं। एक है पौद्गलिक या पारमाणविक कर्म और दूसरा है चैतसिक कर्म। पारिभाषिक शब्दावली में एक है द्रव्य कर्म और दूसरा है भाव कर्म। भाव कर्म के द्वारा कर्म परमाणुओं का संग्रहण और संश्लेषण होता है। प्राणी का भाव और भाव के द्वारा अर्जित परमाणु—ये दो प्रकार बन जाते हैं। भावों को देखकर जाना जा सकता है कि किस प्रकार का कर्म होने वाला है और कर्मों को देखकर जाना जा सकता है कि किस प्रकार का भाव चल रहा है। यह अतीत को जानने और भविष्य को देखने की महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है। इसी के आधार पर अतीत को पढ़ा गया है और भविष्य को देखा गया है। आज भी यदि कोई व्यक्ति सूक्ष्म दृष्टि से निरीक्षण करे तो वह समझ सकता है कि अमुक व्यक्ति कैसा है? इसका व्यवहार किस प्रकार का है? इसने क्या सोचा था? इसका चिंतन या भाव कैसा था? इसका आचरण कैसा था? ये सब बातें ज्ञात हो सकती हैं। इसी प्रकार वर्तमान के कर्मों की अवस्थाओं को देखकर यह समझा जा सकता है कि यह व्यक्ति भविष्य में किस प्रकार का चिंतन, व्यवहार और आचरण करेगा? इस प्रकार अतीत और भविष्य को पकड़ा जा सकता है। यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण माध्यम है। किंतु, कर्मवाद के विषय की जानकारी बहुत कम है और भ्रांतियां अधिक हैं। आज भी कर्मवाद के नाम पर ऐसे सूत्र दोहराए जा रहे हैं जो कर्मवाद की छवि को धूमिल करते हैं और भ्रांत तथा त्रुटिपूर्ण सिद्धांत की प्रस्थापना करते हैं। इससे अनेक भ्रांतियां पनपी हैं और निरंतर पनपती जा रही हैं। आज किसी भी घटना के साथ कर्म को जोड़ दिया जाता है, जबकि कर्म की अपनी एक सीमा है।

हम कर्म की सीमा को नहीं जानते। इसीलिए बीमारी, मृत्यु या अन्यान्य निमित्तों के साथ कर्म का संबंध जोड़ देते हैं। कर्म के द्वारा भी कुछ होता है—यह यथार्थ है, पर सब-कुछ कर्म के द्वारा ही होता है, यह मिथ्या है। यदि सब-कुछ कर्म के द्वारा ही होगा तो कर्म इतना व्यापक बन जाएगा कि उसकी कोई सीमा नहीं रहेगी। फिर पुरुषार्थ का क्या होगा? फिर काल, स्वभाव और नियति का क्या प्रयोजन होगा? पुरुषार्थ आदि का अपना-अपना प्रभाव है, अपना-अपना कार्य है। वे सब व्यर्थ हो जाएंगे।

ध्यान करने वाले यह सोच लें कि अच्छा कर्म किया था, इसलिए ध्यान-साधना में आ गए तो यह भ्रांति होगी। कर्म ध्यान का साधक नहीं, बाधक बन सकता है। कर्म ध्यान में विघ्न उपस्थित कर सकता है। ध्यान करने या कराने में सहयोग देना कर्म का कार्य नहीं है।

हमें चेतना और कर्म की सीमा का पूरा अवबोध करना चाहिए। चैतन्य की अपनी सीमा है और कर्म की अपनी सीमा है। चैतन्य की दो धाराएं हैं। एक है राग-द्वेष की धारा और दूसरी है निर्मल चैतन्य की धारा। जहां राग-द्वेष की धारा है, वहां उसके साथ कर्म का संबंध खोजा जा सकता है। जहां निर्मल चेतना की धारा है, वहां कर्म का कोई संबंध नहीं होता।

ध्यान करने का प्रयोजन है—वर्तमान क्षण का अनुभव करना। वर्तमान क्षण का अनुभव राग-द्वेष-मुक्त क्षण का अनुभव है। जब हम राग-द्वेष-मुक्त क्षण का अनुभव करते हैं, उस समय कर्म का योग नहीं होता, कर्म का बंध नहीं होता। उस समय हम कर्म से अतीत रहते हैं, उस समय केवल द्रष्टाभाव, ज्ञाताभाव बना रहता है। जहां केवल जानना, केवल देखना होता है, वहां कर्म का संबंध नहीं होता। यह केवल जानना, केवल देखना कर्म के द्वारा नहीं होता, कर्म से अलग होने पर होता है। यह शुद्ध चेतना का प्रयोग है। इसे दार्शनिक भाषा में पारिणामिक भाव कहा जाता है। यह चेतना का परिणमन है, जिसके साथ कर्म का कोई सम्बन्ध नहीं है

जब-जब मनुष्य राग-द्वेष के भाव में जाता है, उस समय राग-द्वेष से जुड़ा हुआ चित्त चैतसिक कर्म बन जाता है और जब-जब मनुष्य चैतसिक कर्म में होता है, उस समय

कुछ परमाणुओं का संग्रहण होता है। कुछ परमाणु हमारे साथ जुड़ जाते हैं, हमारे सूक्ष्मतर शरीर के साथ जुड़ जाते हैं। वे पौद्गलिक या पारिमाणिक कर्म बन जाते हैं। हम इन दोनों प्रकार के कर्मों से जुड़े हुए हैं।

इस स्थिति में एक नियम बन गया कि जहां चैतसिक कर्म है, राग-द्वेष-युक्त चैतन्य है, वहां परमाणुओं का संग्रहण होगा। वे कर्म-परमाणु उस राग-द्वेष के अनुरूप ही अपना परिणाम प्रकट करेंगे। इस सिद्धांत से कुछ बातें खोजी जा सकती हैं, कुछ घटनाओं को समझा जा सकता है।

मुनि स्कंधक बहुत बड़े तपस्वी संत थे। किसी कारणवश उनके शरीर की सारी चमड़ी को उधेड़ दिया गया। मुनि उस अत्यंत वेदनामय स्थिति में भी समभाव में रहे। इस घटना का विश्लेषण किया गया। यह प्रश्न उठा कि ऐसा क्यों हुआ? मुनि के शरीर की चमड़ी क्यों उधेड़ी गई? इसके संबंध-सूत्र की खोज प्रारंभ हुई। उस खोज में यह ज्ञात हुआ कि स्कंधक अपने पूर्वभव में 'काचर' छील रहे थे। उन्होंने काचर को इतनी निपुणता से छीला कि उसका छिलका संलग्न रूप से उतर गया। वे अपनी इस निपुणता को सराहने लगे। अपनी निपुणता के प्रति इतनी मूर्च्छा और आसक्ति हो गई कि वे अपनी दक्षता पर फूले नहीं समाए। आसक्ति तीव्र होती गई। उस तीव्र आसक्ति ने इस प्रकार के चित्र का निर्माण किया, जिसने सघन और जटिल परमाणुओं का आकर्षण कर लिया। वे कर्म परमाणु जब विपाक में आए तब स्कंधक के शरीर की चमड़ी उधेड़ दी गई।

इस संबंध-सूत्र की खोज में कर्म तक पहुंचा गया। कर्म के तीन प्रकार हैं—चित्त का कर्म, घटना का कर्म और परमाणु का कर्म। चित्त की तीन अवस्थाएं होती हैं—तीव्र, मध्यम और मंद। चित्त में राग-द्वेष तीव्र होता है, मध्यम होता है और मंद होता है। एक आदमी अत्यंत तीव्र आसक्ति से प्रवृत्ति करता है। वह उसके चित्त की तीव्र अवस्था है। एक आदमी जीवन-यापन के लिए नानाविध प्रवृत्तियों में प्रवृत्त होता है पर, न उसमें तीव्र आसक्ति है और न राग-द्वेष। वह केवल जीवन चलाने के लिए प्रवृत्ति करता है, वह उसके चित्त की मंद अवस्था है। दूसरी अवस्था में एक आदमी प्रवृत्ति करता है और कभी-कभी उसकी सराहना भी कर देता है। उसकी प्रवृत्ति में कुछ आसक्ति रहती है और कुछ अनासक्ति। वह उसके चित्त की मध्यम अवस्था है। घटना में कोई अंतर नहीं आता। घटना एक ही होती है, पर उसके साथ चित्त की वृत्तियां भिन्न-भिन्न बन जाती हैं। उन वृत्तियों के आधार पर कर्म-परमाणुओं का संग्रहण भी निम्न प्रकार का होता है। जब मंद चित्त से कर्म-परमाणुओं का आकर्षण होता है, वह अल्प और अल्पविपाकी होता है। वे कर्म-परमाणु अन्य शक्ति वाले होते हैं। जब तीव्र चित्त से कर्म-परमाणुओं का आकर्षण होता है, तब वह आकर्षण सघन और बहु-विपाकी होता है। उनका संश्लेष प्रगाढ़ होता है और वे तीव्र विस्फोट करने में समर्थ होते हैं।

स्कंधक ने काचर छीला और बाद में उनकी चमड़ी उधेड़ी गई। पर, दुनिया में काचर को न जाने कितने लोग छीलते हैं, किन-किन की चमड़ी उधेड़ी जाएगी? घटना का प्रश्न नहीं है, काचर का प्रश्न नहीं है। यह जरूरी नहीं है कि काचर का छिलका उतारने वाले की चमड़ी छीली ही जाए, मारने वाले को मारा जाए। यह अनिवार्यता सदा नहीं बनती, कभी-कभी बनती है। हिंसा करने वाला, हत्या करने वाला यदि तीव्र आसक्ति से हिंसा-चित्त का निर्माण करता है तो उसकी भी वही गति है। छाल उतारने वाले की चमड़ी उधेड़ी जाती है, व्याख्या में बहुत अंतर आएगा। सामान्यतः कहा जाता है कि किसी का तुमने ऋण दबाया होगा, इसलिए तुम्हारा ऋण कोई दूसरा दबा रहा है। तुमने किसी के लड़के को मारा होगा, किसी के घर चोरी की होगी, किसी के घर डाका डाला होगा, इसीलिए तुम्हारे लड़के को किसी ने मार डाला, किसी ने तुम्हारे घर चोरी की, किसी ने तुम्हारे घर डाका डाला। ऐसा कोई नियम नहीं है। ऐसा हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता। तीव्र अध्यवसाय से किया जाने वाला कर्म उसी रूप में परिणत होता है। मध्यम और मंद परिणाम से जो प्रवृत्ति की जाती है, कर्म किया जाता है—तो जरूरी नहीं है कि वैसा-का-वैसा फिर घटित होगा। जब प्रवृत्ति के साथ तीव्र चित्त का निर्माण हो जाता है तो वैसा भी घटित हो सकता है।

इस प्रसंग में जीवन का एक रहस्य उद्घाटित होता है। कर्म आदमी को कब और कैसे करना चाहिए? कर्म का अर्थ है—प्रवृत्ति। प्रवृत्ति तब करनी चाहिए जब अनिवार्यता हो। अनेक लोग इस सिद्धांत का प्रतिपादन करते हैं कि प्रतिपल कर्म-प्रवृत्ति करते रहना चाहिए। कोई-न-कोई काम करते रहना चाहिए। हम इस बात से सहमत नहीं हैं। काम या प्रवृत्ति हमारा उद्देश्य नहीं होना चाहिए। काम प्रयोजन की निष्पत्ति है। काम उतना हो जितनी अनिवार्यता है। काम अनेक प्रकार के हैं। सिनेमा या टी.वी. देखना भी एक काम है, ताश-चौपड़ खेलना भी एक काम है। ये काम तो हो सकते हैं, पर हमारा उद्देश्य नहीं हो सकते। काम

आवश्यकता से जुड़ा होना चाहिए। आवश्यकता की पूर्ति के लिए काम—यह है काम का उद्देश्य।

दो प्रश्न हैं। पहला प्रश्न है—कार्य कब करना चाहिए? जब आवश्यकता हो, तब कार्य करना चाहिए। दूसरा प्रश्न है—कार्य क्यों करना चाहिए? कार्य जीवन-यात्रा को चलाने के लिए करना चाहिए। प्रवृत्ति के बिना जीवन-यात्रा नहीं चलती, इसलिए प्रवृत्ति करनी होती है। ये दो उद्देश्य हो सकते हैं।

तीसरा प्रश्न है—कर्म कैसे करना चाहिए? यह भी महत्त्वपूर्ण बात है। यहां भी अध्यात्मवाद या कर्मवाद का रहस्य उद्घाटित होता है। जिस व्यक्ति ने कर्मवाद को नहीं समझा, उसने अध्यात्म को नहीं समझा। जिसने अध्यात्म को नहीं समझा, उसने कर्मवाद को नहीं समझा। दोनों परस्पर जुड़े हुए हैं। अध्यात्मवाद का मत है कि कर्म राग-द्वेष-रहित भाव से होना चाहिए। राग-द्वेष जितना मंद हो सके, उतना करना चाहिए, उससे जो कर्मबंध होगा वह मंद होगा। कर्म के साथ जुड़ा हुआ है प्रतिकर्म, अर्थात् कर्म का बंध। शास्त्रकार कहते हैं—

उल्लो सुक्को य दो छूढा, गोलिया मट्टिया मया।
दो वि आवडिया कुड्डे, जो उल्लो सो तत्थ लग्गई॥

मिट्टी के दो गोले हैं। एक है गीला और दूसरा है सूखा। गीली मिट्टी का गोला भींत पर फेंकने से वहां चिपक जाता है और सूखा गोला भींत पर लगकर जमीन पर आ गिरता है। जिस प्रवृत्ति के साथ राग-द्वेष की तीव्रता होती है, वहां मिट्टी गीली हो जाती है और वह भींत पर चिपक जाती है। उससे कर्मबंध तीव्र होता है। जिस प्रवृत्ति के साथ राग-द्वेष मंद होता है, वह मिट्टी सूखी होती है। वह भींत पर चिपकती नहीं, उससे कर्मबंध मंद होता है। कर्म-परमाणु आते हैं, आत्म-प्रदेशों का स्पर्श कर झड़ जाते हैं।

कर्म कैसे करना चाहिए? यह एक महत्त्वपूर्ण पहलू है और इससे अध्यात्मवाद का, ध्यान का सही मार्ग उद्घाटित होता है। यदि ध्यान के द्वारा हमारी प्रवृत्ति में कोई परिवर्तन न आए, कर्म की धारा न बदले, कर्म कैसे करें—यह पहलू फलित न हो तो ध्यान करने का कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। केवल आंखें मूंदकर बैठ जाना, कुछ क्षणों तक शांति या विश्राम का अनुभव कर लेना—इतना ही पर्याप्त नहीं है। ध्यान की निष्पत्ति है—'कर्म कैसे करें' की अनुभूति।

कर्म कैसे करें—जब तक यह नहीं जाना जाता, तब तक ध्यान करने की सार्थकता नहीं होती। ध्यान की सार्थकता तभी होती है, जब हमें यह बोध हो जाता है कि हम प्रवृत्ति करें तो कैसे करें? प्रवृत्ति के साथ राग-द्वेष की धारा अत्यंत मंद हो। राग-द्वेष रहे ही नहीं—यह तभी संभव है जब व्यक्ति वीतराग बन जाता है। जब तक वह वीतराग नहीं बनता, तब तक राग-द्वेष सर्वथा क्षीण नहीं होता, मंद अवश्य हो सकता है। जब राग-द्वेष मंद होता है, तब कर्म का दोष भी मंद हो जाता है। बहुत-सारे लोग इस बात को नहीं जानते।

स्कंधक ने काचर को छीला, इसलिए चमड़ी उधेड़ी गई। यह मूल बात नहीं है। लोगों ने केवल स्थूल बात पकड़ी है। मूल गहराई में छिपा रहता है। व्यक्त होता है—फूल और पत्ता। स्कंधक ने काचर को छीला, उसका परिणाम नहीं था कि उनकी चमड़ी उधेड़ी गई। परिणाम इसलिए आया कि काचर कैसे छीला? किस दक्षता से छीला? कैसे के साथ ही राग-द्वेष की तीव्रता, मंदता का अनुमान होता है और उसी के आधार पर कर्मबंध होता है। कैसे खाएं? कैसे चलें? कैसे बोलें? कैसे बैठें? कैसे सोएं?—यही तो महत्त्वपूर्ण होता है। कैसे का फलित है—भावक्रिया। जो कार्य किया जाए, उसी में तन्मय हो जाना। चलते समय केवल चलें और कुछ न करें, यह है कैसे चलें का कर्म। इसी प्रकार समस्त क्रियाओं के साथ भावक्रिया होनी चाहिए। चलते समय शरीर चले, मन न चले। यह है गमनयोग। विषण्णयोग पद्मासन आदि की मुद्रा में किया जाता है। खड़े-खड़े कायोत्सर्ग करना स्थानयोग है। गमनयोग है चलते-चलते ध्यान करने की उत्कृष्ट स्थिति। इसमें शरीर चल रहा होता है, मन स्थिर रहता है।

ध्यान से दो बातें स्पष्ट रूप से सीख ली जाती हैं—कब करना, क्यों करना? तीसरी बात है कैसे करना? जब यह तीसरी बात समझ में आ जाती है, तब जानना चाहिए कि ध्यान निष्पन्न हो रहा है, ध्यान फलित हो रहा है। जो बीज बोया था, वह अब पौधा बन रहा है, पेड़ बनकर फल दे रहा है। एक महत्त्वपूर्ण सूत्र हमारे पास है कि ध्यान से हमारी चेतना सूक्ष्म बने, चित्त और मन की स्थूलता मिटे। मन सूक्ष्म बने, चित्त सूक्ष्म बने, वाक् सूक्ष्म बने और हम सूक्ष्म सत्य के नियमों को पकड़ सकें। उन नियमों के आधार पर हम अतीत को व्याख्यायित कर सकते हैं और भविष्य को जान सकते हैं। आत्म-निरीक्षण के क्षणों में प्रत्येक व्यक्ति अपने अतीत को पढ़ सकता है और भविष्य को जान सकता है। वह जान सकता है कि अतीत में मैं क्या था और भविष्य में मरकर क्या होऊंगा?

जिस व्यक्ति ने अपने चित्त को पढ़ना प्रारंभ कर दिया, उसने अपने भावी जीवन को देखना प्रारंभ कर दिया। वह चैतसिक कर्म अथवा आस्रव को पढ़ना प्रारंभ कर देता है। अतीत और भविष्य—दोनों के चित्र जब उद्घाटित होते हैं, तब वर्तमान की घटनाओं का अच्छा विश्लेषण किया जा सकता है। उस स्थिति में दूसरों पर दोषारोपण करने की बात समाप्त हो जाती है। फिर व्यक्ति घटना के लिए स्वयं को उत्तरदाई मानने लग जाता है। जब घटना घटित होती है तब वह यह नहीं कहता कि अमुक-अमुक इसके लिए उत्तरदाई हैं। वह कहता है—मैं ही इसका उत्तरदाई हूं। दीपक जल रहा है। हवा का झोंका आया। दीपक बुझ गया। तेल भी समाप्त हो चुका था। पर, सारा दोष हवा को दिया जाएगा। कहा जाएगा—हवा का झोंका आया और दीपक बुझ गया। यह निमित्त पर दोष देने की बात है। जिसकी चेतना ध्यान के द्वारा जाग जाती है, वह व्यक्ति पहले उपादान को देखता है, फिर निमित्त पर ध्यान देता है। वह निमित्तदर्शी नहीं, उपादानदर्शी बन जाता है। वह हमारी चेतना का आध्यात्मिक विकास है। जिस व्यक्ति की आध्यात्मिक चेतना जाग जाती है, वह उपादान की दृष्टि को प्राप्त हो जाता है। वह निमित्त को गौण मानकर देखता है। ❖

हमारा कर्तव्य

संप्रदाय अपने-आप में कुछ नहीं है। वह तो अनेक व्यक्तियों की अध्यात्म भावना का संवाहक है, प्रेरक है। उसे मिटाने का अर्थ है—व्यक्ति-व्यक्ति के अध्यात्म को मिटाना, यह कभी संभव नहीं है। जो व्यक्ति इस विघटनकारी प्रवृत्ति में संलग्न हैं वे भी स्वयं किसी-न-किसी विचार-संप्रदाय से जुड़े हुए तो हैं ही। क्यों नहीं वे अपने-आप को इस विचार-बंधन से मुक्त कर लेते? विचारों से मुक्त होने का अर्थ है अपने अस्तित्व को मिटाना। जब तक चैतन्य है, जब तक संसार है, तब तक विचारों की उधेड़-बुन भी बनी रहती है। इस स्थिति से मनुष्य को छुटकारा दिलाना असंभव है।

एक बार आचार्यश्री तुलसी ने कहा था—'प्रत्येक व्यक्ति अपने-आप में एक संप्रदाय है। संप्रदाय को मिटाने का अर्थ है—व्यक्ति के अस्तित्व को मिटाना। मनुष्य मोहग्रस्त होता है। जब मोह के परमाणु तीव्र होते हैं तब वह मूढ़ बन जाता है। अपने विचारों के प्रति आसक्ति बढ़ती है और उसे केवल अपने ही विचारों में सत्य दीखता है, दूसरों के विचार उसे सत्य से भटकाने वाले प्रतीत होते हैं और वह आग्रह को लिए हुए चलता रहता है। विचारों के प्रति मोह प्रबल होता है और दूसरों के विचारों का विरोध करता हुआ ही वह अपना अस्तित्व बनाए रखता है। पूर्वाग्रह से व्यक्ति भटक जाता है। वह सही ज्ञान के अभाव में विपरीत निर्णय कर लेता है। वह अंधकार में फंस जाता है और अपनी क्षमता को नष्ट कर देता है।'

विचारों की विविधता बुरी नहीं होती। बुरा होता है विचारों के प्रति व्यामोह। मूढ़ व्यक्ति ही अपने अयथार्थ या क्षुद्र विचारों से चिपका रहता है और अपने निर्णय को ही सर्वोपरि मानकर दूसरों को उसी के अनुसार चलने की बात कहता है। यही संघर्ष की भूमिका है। जो व्यक्ति जहां है, उसे वे विचार अच्छे लगेंगे, यह स्वाभाविक बात है। व्यक्ति अपने विचारों को सुंदर माने, श्रेष्ठ माने, श्रेष्ठतम भी मान ले। किंतु, उसे यह अधिकार नहीं कि दूसरों के विचारों को वह हीन या हीनतम ही माने। ऐसा मानना स्वयं की हीनता है। परंतु जो व्यक्ति दूसरों की हीनता दृष्टिगोचर कर अपनी महनीयता का प्रासाद खड़ा करना चाहता है वह जघन्य है। उसकी विचार-संपदा निकृष्ट है और वह कभी अपने विचारों में सफल नहीं हो सकता।

पिछले सैकड़ों वर्षों में हजारों साधक व्यक्तियों ने तेरापंथ धर्म-शासन में प्रव्रज्या ग्रहण की और कठोरतम परिस्थिति में भी अपना संतुलन स्थिर रखते हुए अपने कार्य और लक्ष्य में स्थिर रहे। उनके जीवन का पर्यवेक्षण हमारे लिए आज भी प्रकाश-स्तंभ है। प्रव्रजित व्यक्तियों में जो व्यक्ति तेरापंथ धर्म-शासन से विलग हो गए, उनमें कई व्यक्ति विलग होकर भी धर्म-शासन के अभिमुख रहे और कइयों ने अपनी कमजोरियों पर आवरण डालने के लिए धर्म-शासन को बुरा-भला कहा, जघन्यतम आरोप लगाए, अभद्र एवं अश्लील शब्दों में धर्म-शासन तथा शासन-पति की अवहेलना की, संघानुवर्ती साधुओं पर कलंक लगाए और इन ऋजु आधारों पर अपने-आप को सत्य प्रमाणित करने का उपक्रम किया। कई लोग इस भूलभुलैया में भटक गए और अनेक लोगों ने निंदक वृत्ति के लिए उन्हें धिक्कारा। तेरापंथ के आचार्यों को इसकी कभी चिंता नहीं हुई। वे सदा इस दिशा में प्रयत्नशील रहे, और हैं कि जो साधक धर्म-शासन में रहें—वे पवित्रता से रहें—संघेक्य को अक्षुण्ण रखते हुए, मर्यादाओं की अखंडता को बनाए रखते हुए रहें। परंतु, अपने-आप को पतित कर संघ को धोखा न दें। ❖

—**मुनि दुलहराज**

भारतीय परंपरा की राजनीति तो ऐसी थी कि साधु-संतों, ऋषियों-मुनियों तथा गुरुओं-आचार्यों की सत्संगी एवं स्वावलंबी शिक्षा से ही जनता इतनी सत्त्वगुणी तथा निरपराध बन जाए कि जो शासनीय सत्ता है उसका दायित्व-भार कम-से-कम हो जाए। हमारे यहां रामराज्य का जो आदर्श है, वह इसी राजनीति का पोषक है। गांधीजी भी भारत को आजादी दिलाने के बाद उसे इसी रूप में ढालना चाहते थे कि जनता इतनी अच्छी तरह शिक्षानुशासित हो जाए कि उसे सत्तानुशासित करने की जरूरत कम-से-कम रह जाए। पर आज की स्थिति यह है कि शिक्षा की प्रक्रिया द्वारा इंसानों के अंतःकरण को कुंठित करके उनको अपराधी बनने में प्रोत्साहन दिया जा रहा है और यह मान लिया गया है कि अपराधों को रोकने का काम केवल कानून का, केवल पुलिस का, अदालतों का तथा जेलों का है। तो नतीजा क्या है?

❑ ❑❑❑

❑ शिक्षा : नैतिकता की कसौटी

❑ दयालचन्द्र सौनी

समाज में शत-प्रतिशत नैतिकता तो कभी भी नहीं रहती है, पर कभी वह कुछ ज्यादा रहती है और कभी कुछ कम पड़ जाती है। आज हमारे समाज में लोगों का जो नैतिक स्तर है वह कुछ ज्यादा ही गिर गया है, ऐसी एक आमराय आज पाई जा रही है। जिस गांधी ने भारत को आजाद कराया उसका मकसद केवल ऐसा नहीं था कि भारत पर गोरी चमड़ी वाले विदेशियों के बजाय गेहुंआ रंग की चमड़ी वाले भारतीय राज्य करें। गांधीजी की मान्यता थी कि भारत पर जो नैतिक या सांस्कृतिक प्रभाव ब्रिटिश शासन का पड़ रहा है वह गलत है। बस, इसीलिए वे अपने भारत को आजाद कराना चाहते थे कि भारतीय संस्कृति में आजादी या स्वाधीनता का जो कल्याणकारी स्वरूप निहित था, स्वाधीनता के उसी भारतीय स्वरूप को पुनः जगाना जरूरी है। भारत की प्राचीन संस्कृति में स्वाधीनता का अर्थ 'स्व' के आधीन रहने का है। स्व का मतलब है हमारा अंतःकरण या हमारा आत्माराम, जो हमें कभी भी झूठ, कपट, चोरी, हिंसा, अन्याय या अत्याचार करने की इजाजत नहीं देता। पर, आज हमारे समाज में अंतःकरण की उपेक्षा बहुत बढ़ गई है। समाज का नैतिक स्तर, आजादी की प्राप्ति के समय जैसा था, वैसा आज नहीं है। भारत के लोग सांसारिक धन-दौलत अथवा ऐश्वर्य के गुलाम नहीं थे। वे अपनी अंतरात्मा में ईश्वर का निवास मानकर ईमानदारी, प्रेमपूर्ण दया भाव, त्याग-तपस्या एवं मैत्री भात्र से अपना जीवन बिताते थे।

भारतीय संस्कृति की इसी विशिष्टता के कारण अंग्रेजों को इस बात का डर था कि भारतवासियों को अपनी गुलामी में रखते हुए उनका आर्थिक शोषण ज्यादा अरसे तक करते रहना मुश्किल हो सकता है। अंग्रेजों के सामने जो समस्या थी, वह यह थी कि भारतवासियों में ऐश्वर्य की पूजा (यानी धन-संपदा एवं हुकूमत की लालसा) तो नहीं है, पर ईश्वर-पूजा की लालसा अवश्य है, और इसीलिए वे अंतःकरण में ईश्वर का निवास मानकर उसके अंकुश में रहते हैं। ऐसे भारतवासियों पर अपना शासन चलाने के लिए उनके इन आध्यात्मिक संस्कारों को ठंडा या शिथिल करना होगा। भारत में अपने शासन तंत्र को ठीक से चलाने के लिए इने-गिने अंग्रेज तो रखे जा सकते थे, पर अधिकांश में तो उनको ऐसे भारतीयों की ही जरूरत थी जो अपने ही स्वदेश पर विदेशी गुलामी का शासन चलाने में साधन या औजार बनने में शर्म या संकोच महसूस करने के बजाय प्रतिष्ठा एवं गौरव का अनुभव करें। अतः अंग्रेजों को लगा कि भारतवासियों के आध्यात्मिक जीवन-मूल्यों को शिथिल करना होगा और उनमें आधिभौतिक जीवन-मूल्यों

की लालसा पैदा करनी होगी। मानसिकता को बदलने का काम शिक्षा को उसके अनुरूप बनाने से ही संभव होता है और मैकाले नामक एक अंग्रेज ने शिक्षा को वैसा ही रूप देने की योजना बनाने में सफलता प्राप्त की और ब्रिटिश शासकों ने मैकाले द्वारा आविष्कृत शिक्षा-योजना को भारतवासियों पर लागू किया।

भारत के प्राचीन ईशावास्य उपनिषद् में जो नौवां श्लोक है, उसमें शिक्षा की दृष्टि से एक अति रहस्यपूर्ण बात खोलकर रख दी गई है। इस श्लोक का भावार्थ यह है—'जो लोग विद्या (अर्थात् बौद्धिक ज्ञानोपासना) को छोड़कर केवल अविद्या (अज्ञानी रहकर, केवल कमाने-खाने के कर्म) में पड़े हुए हैं, वे तो अंधकार में हैं ही, परंतु जो लोग ऐसी अविद्या से परहेज करते हुए केवल विद्या ही की उपासना में लगे हुए हैं, वे तो और भी घने अंधकार में पड़े हुए हैं।' पता नहीं, मैकाले ने ईशावास्य उपनिषद् के इस श्लोक को पढ़ा था या नहीं पढ़ा था, पर उसने इस श्लोक में निहित रहस्य का उपयोग ब्रिटिश राज के स्वार्थ के लिए जरूर किया। मैकाले ने अपनी शिक्षा-योजना में उत्पादक देह श्रम को न केवल बहिष्कृत किया, बल्कि उसके लिए घृणा, तिरस्कार तथा परहेज की भावना पैदा करने की व्यवस्था की। शिक्षा के पूरे कार्यक्रम को केवल किताबी तथा बौद्धिक साधना का कार्यक्रम बना दिया। मैकाले चाहता था कि जो भी भारतीय नागरिक शिक्षित हो जाए, वह अन्न तो खाए, पर खेती से घृणा करे; दूध तो पीए, पर गोपालन से परहेज करे; कपड़ा तो पहने, पर सूत नहीं काते; महल में तो रहे, पर कारीगर नहीं बने; गंदगी तो करे, पर सफाई का काम कोई और करे। इस प्रकार जो भी व्यक्ति शिक्षित हो उसमें स्वावलंबन का सामर्थ्य समाप्त हो जाए और वह केवल आज्ञापालक नौकर बने रहने के लिए मजबूर हो जाए। मालिक चाहे ऐसा काम भी कराना चाहे जो कि व्यक्ति के अंतःकरण को मान्य नहीं है, फिर भी देहश्रम से अपना गुजारा करने में जो असमर्थ शिक्षित व्यक्ति है, उसे अपने अंतःकरण को दबा करके भी मालिक की आज्ञा माननी पड़ेगी। इस प्रकार शिक्षा जो थी, वह शिक्षा तो नहीं रही पर 'नौकरी की तैयारी तथा मजबूरी' को शिक्षा का भ्रामक नाम दे दिया गया। इसके साथ ही शिक्षित व्यक्तियों को बी.ए., एम.ए., पीएच.डी. तथा कई अन्य प्रकार की उपाधियां तथा उनके साथ सर्टिफिकेट भी दिए जाने लगे ताकि शिक्षित लोग अपने को विशिष्ट वर्गीय प्रतिष्ठित लोगों के रूप में मानने लगें और समाज में भी उनका सम्मान बढ़ जाए। पर यदि हम, शिक्षित व्यक्तियों को सर्टिफिकेट देने की प्रथा पर जरा गहराई से विचार करें तो हमें यह बात भी समझ में आ जाएगी कि जो व्यक्ति सर्टिफिकेट को बता कर यह साबित करता है कि वह सचमुच शिक्षित है, वह व्यक्ति मौन रूप से यह भी मंजूर कर रहा है कि वह स्वयं झूठ बोल सकता है और अविश्वसनीय है और इसीलिए उसे सर्टिफिकेट प्राप्त भी करना पड़ा है और नौकरी पाने के लिए उसे दिखाना भी पड़ रहा है। जो शिक्षा व्यवस्था शिक्षित व्यक्ति को सर्टिफिकेट प्रदान करती है, वह शिक्षा इस बात को भी स्वीकार करती है कि शिक्षित व्यक्ति के लिए ईमानदार होना जरूरी नहीं है। सर्टिफिकेट तो शिक्षित व्यक्ति की किसी भी विषय में केवल निपुणता की प्राप्ति का ही है। इसलिए चाहे वह शिक्षित व्यक्ति कितना भी भ्रष्ट, दुष्ट तथा हरामखोर हो जाए, शिक्षा की कृपा से उसको जो सर्टिफिकेट मिला हुआ है—वह उससे कोई छीन नहीं सकेगा; इस मैकालेई शिक्षा की ऐसी ही व्यवस्था है। विद्यालयों में जब छात्रों की परीक्षा ली जाती है तो परीक्षा के लिए काम आने वाले भवन में 'इन्विजिलेटर' रखे जाते हैं, क्योंकि यह मान लिया जाता है कि यदि पहरेदारी नहीं की गई तो जो परीक्षार्थी छात्र हैं वे नकल भी कर सकते हैं। 'इन्विजिलेटर' की यह प्रथा इस बात का प्रमाण है कि विद्यालय स्वयं भी अपने छात्रों को विश्वसनीय तो नहीं मानता है। तब यदि विद्यार्थी भी ऐसा मानें कि उनके लिए ईमानदार होना जरूरी नहीं है तो इसमें विद्यार्थियों का दोष क्या है?

गुरुकुल नामधारी प्राचीन भारतीय विद्यालयों में संस्कृत भाषा में जो प्रार्थना होती थी उसका हिंदी रूपांतर इस प्रकार है कि '॥ॐ॥ हम साथ-साथ श्रम करें, हम साथ-साथ भोजन करें, हम मिलजुल कर अपनी शक्ति की रक्षा करें, हम तेजस्वी बनें (यानी दब्बू या कायर नहीं बनें) और हममें विद्वेष (यानी ईर्ष्या एवं दूसरे के प्रति वैर भावना) नहीं हो। ॐ शांतिः शांतिः शांतिः॥' अब यदि हम गुरुकुलीय शिक्षा की इस प्रार्थना की कसौटी पर मैकालेई शिक्षा की जांच करें तो हम पाएंगे कि मैकालेई शिक्षा में न तो साथ-साथ श्रम और साथ-साथ भोजन करने की बात है, न सशक्त एवं तेजस्वी बनने की बात है और न द्वेष एवं वैर भाव से मुक्त होने की बात है। बल्कि मैकालेई शिक्षा तो इस गुरुकुलीय शिक्षा से बिलकुल उल्टी है। गुरुकुलीय शिक्षा का मूल ध्येय जनता को सहयोग तथा मैत्री भाव सिखाने का तथा जनता को निर्भय तथा तेजस्वी यानी

प्रभावशाली एवं साहसी बनाना था। पर मैकालेई शिक्षा में जो सहपाठी होते हैं वे तो एक-दूसरे के सहयोगी नहीं, बल्कि प्रतियोगी होते हैं। मैकालेई शिक्षा में जो परीक्षा की व्यवस्था है, उसमें पास होने की श्रेणियां बनी हुई हैं। कोई 'फर्स्ट', कोई 'सेकंड' और कोई 'थर्ड डिविजन' में पास होता है और कोई 'फेल' भी होता है। इस तरह मैकालेई शिक्षा में हर सहपाठी एक-दूसरे के लिए खतरनाक प्रतियोगी का रूप धारण कर लेता है और यही संस्कार मैकालेई शिक्षा से निकले हुए स्नातकों में आजीवन बना रहता है।

अंग्रेज लोग भारत के मूल निवासियों के लिए 'नेटिव' शब्द को विशेषण के रूप में काम में लेते थे। 'नेटिव' शब्द एक बात तो यह व्यक्त करता है कि 'यह व्यक्ति इसी देश में जन्मा हुआ स्वदेशी है', पर इसके साथ ही इसमें एक भाव यह भी होता है कि 'यह व्यक्ति बेचारा अभी तक जरा असभ्य एवं अविकसित है'।' अंग्रेज लोग भारत के मूल निवासियों को असभ्य एवं अविकसित दयनीय लोग ही मानते थे और स्वयं को बहुत सभ्य एवं सुविकसित मानते थे। वे ऐसी शिक्षा फैलाना चाहते थे जिससे भारतीय शिक्षित जन गोरी चमड़ी के बजाय गेहुआं रंग की चमड़ी होते हुए भी अंग्रेजों जैसे सभ्य एवं विकसित हो जाएं। इसके लिए मैकालेई शिक्षा का एक लक्ष्य यह रखा गया कि शिक्षा द्वारा हर छात्र अंग्रेजी भाषा में प्रवीणता प्राप्त करे तथा अंग्रेजी वेषभूषा एवं अंग्रेजी शिष्टाचार को भी अपना ले। इसके साथ जो भारतीय ऐसा नकली अंग्रेज बन जाए उसे अंग्रेजी भाषा में 'सर' यानी 'आदरणीय वरिष्ठ महोदय' की उपाधि भी दी जाने लगी। इस से मैकालेई शिक्षा से शिक्षित लोग अपने-आप को विशिष्ट वर्गीय व्यक्ति मानने लग गए और जो शेष जनसमूह इस शिक्षा से वंचित रहा, उसे बेचारे सामान्य जनसाधारण के रूप में देखा जाने लगा।

प्राचीन भारत में जो समाज था, वह चार वर्णों में बंटा हुआ था। पर मैकालेई शिक्षा ने समाज को केवल दो भागों में विभक्त कर दिया। एक भाग तो सुशिक्षित तथा सरकारी नौकरी में लगे हुए विशिष्ट प्रतिष्ठित अल्पसंख्यक व्यक्तियों का और दूसरा भाग बहुसंख्यक अशिक्षित जनता की भारी भीड़ का। भारतीय ऋषियों में एक प्रार्थना ऐसी भी बोली जाती थी जिसका हिंदी रूपांतर इस प्रकार का होता है कि 'सभी लोग सुखी हों, सभी लोग सुस्वस्थ हों, सभी लोग सौभाग्यशाली हों और दुख से पीड़ित व्यक्ति कोई भी नहीं हो।' पर मैकालेई शिक्षा की मान्यता यह रही है कि अल्पसंख्यक लोग जो संपन्न हैं, शिक्षित हैं और शासक हैं—उन्हें शेष बहुसंख्यक लोगों को ठगने या उनका शोषण करने की छूट मिल जानी चाहिए। ब्रिटिश शासकों ने भारतीय शिक्षा में शिक्षित लोगों को जो नैतिकता का उल्लंघन सिखाया, जो सहयोग एवं प्रेमभाव का दमन करके विद्वेष एवं प्रतियोगिता की भावना जगाई, हमारे स्वदेश में जो उच्चवर्गीय अल्पसंख्यक समुदाय खड़ा करके उस समुदाय को सामान्य तथा बहुसंख्यक जनता से अलग कर दिया—यह सारी स्थिति उस समय हमें ब्रिटिश राज की देन या एक विरासत में मिली थी। अब आधी शताब्दी से भी अधिक समय बीत गया है, उस आजादी की प्राप्ति के बाद। पर, हमने उसी शिक्षा प्रणाली को अब तक भी जारी रखा जो हमारे समाज को नैतिक दृष्टि से कमजोर करते हुए उसे आध्यात्मिकता के बजाय आधिभौतिकता का जीवन-दर्शन एवं ईश्वर के बजाय ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए प्रेरित करती थी।

आजादी की प्राप्ति जब निकट तथा संभव लगने लगी तो आजादी की प्राप्ति से दस वर्ष पहले ही गांधी ने यह पुकार कर दी थी कि आजादी की जिम्मेदारी को निभाने वाले नागरिकों को तैयार करने के लिए मैकालेई शिक्षा प्रणाली का परित्याग करो तथा ऐसी शिक्षा प्रणाली को स्थापित करो जो उत्पादक शरीर-श्रम को शिक्षा का प्रमुख विषय मान कर शेष विषयों को उसके सहायक विषयों के रूप में मान कर चले। इसके अलावा उन्होंने यह भी कहा कि अंग्रेजी भाषा की शिक्षा, प्रारंभिक आधारभूत सार्वजनीन शिक्षा की अवधि समाप्त हो जाने के बाद, उच्चतर शिक्षा में ही दी जानी चाहिए। क्योंकि अंग्रेजी भाषा की शिक्षा भारत के लगभग दस-पंद्रह प्रतिशत लोगों के लिए भले ही जरूरी हो, पर शतप्रतिशत भारतीय जनता को अनिवार्य रूप से अंग्रेजी सिखाना जरूरी नहीं है। आधारभूत सार्वजनीन शिक्षा में शिक्षा का माध्यम अलग-अलग प्रदेशों में जो अलग-अलग मातृभाषाएं हैं, वे ही मातृभाषाएं होनी चाहिएं। गांधीजी द्वारा प्रस्तावित एवं प्रतिपादित यह आधारभूत शिक्षा (यानी बुनियादी शिक्षा) भारतीय शिक्षा में अहिंसक क्रांति के रूप में प्रशंसित भी हो गई और आजादी की प्राप्ति से पहले के कुछ वर्षों में यत्र-तत्र इस शिक्षा को अपनाया भी गया। पर आजादी की प्राप्ति के बाद न केवल गांधी की दैहिक हत्या हो गई, बल्कि उनकी वैचारिक हत्या भी उसी भारत में हो गई जिसे आजाद कराने में उनका मूल लक्ष्य केवल अंग्रेजी राज से ही छुटकारा पाना नहीं था,

बल्कि उन घातक जीवन-मूल्यों से छुटकारा पाना था जो मानवता के लिए अशुभ एवं अवांछनीय हैं।

स्वाधीनता की प्राप्ति के बाद शिक्षा के विषय में हमारे देश की सबसे बड़ी गलती यह हुई है कि जो दूषित शिक्षा ब्रिटिश राज में केवल सरकारी नौकरशाही या अन्य नौकरीपेशा लोगों के लिए आवश्यक मानी जाती थी, उसी दूषित शिक्षा को हमारे स्वाधीन भारत ने देश की शत-प्रतिशत जनता के लिए न केवल उपयुक्त मान लिया, बल्कि उसी को अनिवार्य बनाने की मुहिम भी शुरू कर दी। मैकालेई शिक्षा बेशक दूषित तो थी, पर अंग्रेजों ने उस दूषित शिक्षा को शत-प्रतिशत जनता पर थोपा नहीं था। पर, आजाद भारत के कर्णधारों ने तो मैकाले से भी बढ़कर स्वदेश का अपराध कर रखा है। हमारे संविधान की धारा 45 की गलती यह है कि वह आठ वर्षीय प्रारंभिक शिक्षा को अनिवार्य तथा मुफ्त देने का दायित्व तो सरकार पर डालती है, पर उस सार्वजनीन शिक्षा का स्वरूप कैसा होगा, इस विषय में यह धारा बिलकुल चुप है। हमारे नौकरशाहों ने उसी मैकालेई शिक्षा को, जिसे शिक्षा का नाम देने के बजाय 'नौकरी की तैयारी' का ही नाम दिया जाना चाहिए, सार्वजनीन बनाने की 'मेहरबानी' कर रखी है। नौकरी तो दासता है तथा परिचर्या है जिसे गीता (अध्याय 18, श्लोक 44) में शूद्र का स्वाभाविक कर्म बताया गया है। मैकालेई शिक्षा तो शिक्षित लोगों का शूद्रीकरण करने वाली शिक्षा है। यह शिक्षा तो सहयोग के बजाय विद्वेष पैदा करने वाली है, यह शिक्षा तो शिक्षित व्यक्ति को तेजस्वी एवं साहसी बनाने के बजाय दब्बू बनाने की शिक्षा है, यह शिक्षा तो सर्टिफिकेट को विश्वसनीय और सर्टिफिकेट धारी व्यक्ति को अविश्वसनीय बनाने की शिक्षा है। यह शिक्षा तो देश के शिक्षकों को सरकारी गुलाम बना देने वाली शिक्षा है। ऐसी शिक्षा को यदि रखना ही है तो उसे सीमित रखा जाए। उसे फैलाते क्यों हैं? शिक्षा जितनी हमारी शिक्षण संस्थाओं में हो रही है, उससे कहीं ज्यादा शिक्षा हमारे जीवन की प्रक्रिया में जन्म से मृत्यु तक स्वतः हो रही है। हमारा देश अंग्रेजों के शासन से इसीलिए मुक्त हो पाया कि मैकालेई शिक्षा व्यवस्था सन् 1947 तक सार्वजनीन नहीं होने से भारतीयों को कायरता एवं दासत्व सिखाने हेतु श्रमहीन शिक्षा द्वारा सारी जनता के अंतःकरण को कुंठित नहीं कर पाई थी।

भारतीय परंपरा की राजनीति तो ऐसी थी कि साधु-संतों, ऋषियों-मुनियों तथा गुरुओं-आचार्यों की सत्संगी एवं स्वावलंबी शिक्षा से ही जनता इतनी सत्त्वगुणी तथा निरपराध बन जाए कि जो शासनीय सत्ता है उसका दायित्व-भार कम-से-कम हो जाए। हमारे यहां रामराज्य का जो आदर्श है, वह इसी राजनीति का पोषक है। गांधीजी भी भारत को आजादी दिलाने के बाद उसे इसी रूप में ढालना चाहते थे कि जनता इतनी अच्छी तरह शिक्षानुशासित हो जाए कि उसे सत्तानुशासित करने की जरूरत कम-से-कम रह जाए। पर आज की स्थिति यह है कि शिक्षा की प्रक्रिया द्वारा इंसानों के अंतःकरण को कुंठित करके उनको अपराधी बनने में प्रोत्साहन दिया जा रहा है और यह मान लिया गया है कि अपराधों को रोकने का काम केवल कानून का, केवल पुलिस का, अदालतों का तथा जेलों का है। तो नतीजा क्या है? नतीजा यह है कि सरकारी तंत्र इतना भारी, इतना उलझा हुआ तथा इतना विशाल हो गया है कि जिसका खर्चा उठाने हेतु शराब की ठेकेदारी से धन प्राप्त किया जाता है और इतना अधिक विदेशी कर्जा लिया जाता है कि जिसका ब्याज चुकाना भी मुश्किल है। सन् 1947 में जब भारत आजाद हुआ था तो उस समय वह कर्जदार नहीं था, बल्कि इंग्लैंड पर भारत का कर्जा था। पर, आज आजाद भारत कर्जदार भारत बनता जा रहा है। आज का मुख्य राष्ट्रीय प्रश्न यह है कि क्या हमारे इस शिक्षाजन्य नैतिक पतन के बावजूद हम अपनी आजादी को सुरक्षित रख सकेंगे?

स्थिति बहुत निराशाजनक है। गलत जीवन-मूल्यों के फैलने से प्रकृति को भी लूटा जा रहा है और पर्यावरण प्रदूषित होता जा रहा है। विज्ञान एवं यांत्रिकी में आश्चर्यजनक उपलब्धियां तो बेशक हैं, पर उनका बहुत दुरुपयोग हो रहा है। शिक्षा तो निराशाजनक है ही और अकेली सरकार भी लाचार-सी साबित हो रही है। तो प्रश्न यह है कि यह स्थिति कैसे सुधरे? इस प्रश्न पर गंभीर विचार करने पर हमारा ध्यान हमारे देश की संत-शक्ति पर जाता है जिसका अस्तित्व एवं प्रभाव हमारे देश में आज भी है। गीता का आश्वासन है कि जब भी युग की अतिदुर्दशा होगी, ईश्वर उसके इलाज का प्रबंध करेगा। यह जरूरी नहीं है कि ईश्वर का अवतार एक व्यक्ति के रूप में ही हो। वह अवतार एक विचार, एक संदेश अथवा एक मुहिम अथवा आंदोलन के रूप में भी हो सकता है। बेशक आज की स्थिति संकटग्रस्त है। पर, भारतीय संस्कृति एवं परंपरा हमें आश्वस्त करती है कि उसका उपचार, हमारे देश में जो आज भी जीवित एवं प्रभावी संतशक्ति है, उसके द्वारा हो सकेगा। ❖

शब्द गतिशील है, इसलिए वह वक्ता के मुंह से निकलते ही लोक में फैलने लगता है। वक्ता का प्रयत्न तीव्र होता है तो शब्द के परमाणु स्कंध भिन्न होकर फैलते हैं और यदि उसका प्रयत्न मंद होता है तो शब्द के परमाणु स्कंध अभिन्न होकर फैलते हैं। जो भिन्न होकर फैलते हैं, वे सूक्ष्म हो जाते हैं और दूसरे-दूसरे अनंत परमाणु स्कंधों को प्रभावित कर लोकांत तक फैल जाते हैं। जो अभिन्न होकर फैलते हैं, वे असंख्य योजन तक पहुंच कर नष्ट हो जाते हैं, भाषा रूप से च्युत हो जाते हैं।

❑ ——— ❑❑❑

❑ शब्द : एक विमर्श

❑ साध्वी (डॉ.) योगक्षेमप्रभा

जैन दर्शन के अनुसार शब्द पौद्गलिक, मूर्त और अनित्य है। शब्द का अर्थ है—पुद्गलों के संघात और विघात से होने वाला ध्वनि परिणाम[1]। असंबंधित पुद्गलों का संबंध होने से और संबंधित पुद्गलों का संबंध विच्छेद होने से शब्द का जन्म होता है।[2]

शब्द के तीन भेद हैं—जीव (सचित्त) शब्द, अजीव (अचित्त) शब्द और मिश्र शब्द। जीव के द्वारा जो बोला जाता है, वह जीव शब्द है। यह आत्म-प्रयत्न परिणाम है। वह भाषा या संकेतमय होता है। अजीव शब्द केवल अव्यक्त ध्वन्यात्मक होता है। मिश्र शब्द दोनों के संयोग से होता है।

तत्त्वार्थ राजवार्तिक में शब्द के भाषात्मक-अभाषात्मक आदि दस भेद किए गए हैं[3]—

- **शब्द**
  - **भाषात्मक**
    - **अक्षरात्मक**
    - **अनक्षरात्मक**
  - **अभाषात्मक**
    - **प्रायोगिक**
      - **तत**
      - **वितत**
      - **घन**
      - **शुषिर**
    - **वैस्रसिक**

स्थानांग में शब्द के दस प्रकार बताए हैं[4]—
1. **निहारि**—घोषवान् शब्द, जैसे घंटा का। 2. **पिंडिम**—घोषवर्जित शब्द, जैसे नगाड़े का। 3. **रूक्ष**—काक आदि का। 4. **भिन्न**—वस्तु के टूटने से होने वाला शब्द। 5. **जर्जरित**—तारवाले बाजे का शब्द। 6. **दीर्घ**—जो दूर तक सुनाई दे, जैसे मेघ का शब्द। 7. **ह्रस्व**—सूक्ष्म शब्द, जैसे वीणा का। 8. **पृथक्त्व**—अनेक वाद्य यंत्रों का संयुक्त शब्द। 9. **काकणी**—सूक्ष्म कंठों की गीत ध्वनि। 10. **किंकिणी स्वर**—घूघरों की ध्वनि।

शब्द का एक वर्गीकरण इस प्रकार भी है[5]—

- **शब्द**
  - **भाषात्मक**
    - **अक्षर संबद्ध**
    - **नोअक्षर संबद्ध**
  - **नोभाषात्मक**
    - **आतोध्**
      - **तत**
        - **घन**
        - **शुषिर**
      - **वितत**
        - **घन**
        - **शुषिर**
    - **नोआतोध्**
      - **भूषण शब्द**
      - **नोभूषण शब्द**
        - **ताल शब्द**
        - **कंसिका शब्द**

इन शब्दों के अर्थ इस प्रकार हैं—

भाषा शब्द—मनुष्य अथवा पशु-पक्षियों के शब्द, **नोभाषा शब्द**—अजीव वस्तु का शब्द, **अक्षर संबद्ध**—अकार आदि वर्ण रूपी शब्द, **नोअक्षर संबद्ध**—वर्ण रहित अव्यक्त शब्द, **आतोध् शब्द**—पटह आदि के शब्द, **नोआतोध् शब्द**—बांस स्फोट आदि के शब्द, **तत**—वीणा, सारंगी आदि के शब्द, **वितत**—मृदंग, पटह आदि के शब्द, **घन**—कांसे का झांझ, पिंजनिका आदि के शब्द, **शुषिर**—बांसुरी, शंख आदि के शब्द, **भूषण**—नुपूर आदि के शब्द, **नोभूषण**—आभूषण आदि से भिन्न वस्तु के शब्द, **ताल शब्द**—

ताली आदि के शब्द, **लतिका शब्द**—पदचाप, टाप आदि के शब्द, **घन शब्द**—भाणकवत्, **शुषिर शब्द**—काहलादिवत।

आचार्य पूज्यपाद् ने[6] तत का अर्थ तबला, भेरी आदि का शब्द, वितत का अर्थ वीणा आदि का, घन-ताल, घंटा आदि का तथा शुषिर का शंख, बांसुरी आदि का शब्द अर्थ किया है। शब्द के दो भेद—प्रायोगिक और वैस्रसिक किए गए हैं। जो शब्द प्रयत्नजन्य हैं, उन्हें प्रायोगिक कहते हैं। वे भाषात्मक और अभाषात्मक दोनों हैं। जो स्वभावजन्य हैं, वे वैस्रसिक हैं। मेघ आदि से होने वाला शब्द ऐसा ही है। पुद्गलों की अनेक वर्गणाएं हैं। उनमें एक है—भाषा वर्गणा। कोई भी प्राणी जब बोलने का प्रयत्न करता है तब वह सबसे पहले भाषा वर्गणा के परमाणु स्कंधों को ग्रहण करता है। उन्हें भाषा के रूप में परिणत करता है और उसके पश्चात् उनका विसर्जन करता है। इस विसर्जन को भाषा कहा जाता है।

इसी संदर्भ में पंडित सुखलालजी ने कहा है[7]—शब्द कोई गुण नहीं है, जैसा कि न्याय-वैशेषिक आदि मानते हैं। यह भाषावर्गणा के पुद्गलों का एक प्रकार का विशिष्ट परिणाम है। निमित्त-भेद से उनके अनेक भेद किए जाते हैं।

शब्द गतिशील है, इसलिए वह वक्ता के मुंह से निकलते ही लोक में फैलने लगता है। वक्ता का प्रयत्न तीव्र होता है तो शब्द के परमाणु स्कंध भिन्न होकर फैलते हैं और यदि उसका प्रयत्न मंद होता है तो शब्द के परमाणु स्कंध अभिन्न होकर फैलते हैं। जो भिन्न होकर फैलते हैं, वे सूक्ष्म हो जाते हैं और दूसरे-दूसरे अनंत परमाणु स्कंधों को प्रभावित कर लोकांत तक फैल जाते हैं। जो अभिन्न होकर फैलते हैं, वे असंख्य योजन तक पहुंच कर नष्ट हो जाते हैं, भाषा रूप से च्युत हो जाते हैं।[8]

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के अनुसार हम जो सुनते हैं, वह वक्ता का मूल शब्द नहीं सुन पाते। वक्ता का शब्द श्रेणियों, आकाश-प्रदेश की पंक्तियों में फैलता है। ये श्रेणियां वक्ता के पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण, ऊंची-नीची छहों दिशाओं में हैं। हम शब्द की समश्रेणी में होते हैं तो मिश्र शब्द सुनते हैं अर्थात् वक्ता द्वारा उच्चारित शब्द और उनके द्वारा वासित शब्द द्रव्यों को सुनते हैं। यदि हम विश्रेणी (विदिशा) में होते हैं तो केवल वासित शब्द ही सुन पाते हैं।

शब्द की पौद्गलिकता को सिद्ध करते हुए आचार्य मलयगिरि ने लिखा है—शब्द आकाश का गुण नहीं है, वह पुद्गल का गुण है। जैसे रूप चक्षुग्राह्य होने से पौद्गलिक है, वैसे ही शब्द श्रोत्रग्राह्य होने से पौद्गलिक है। उत्तराध्ययन के टीकाकार शांत्याचार्य ने उसके मूर्तत्व की सिद्धि में कहा है—शब्द पुद्गल है, क्योंकि वह मूर्त है। लोष्ट की भांति शब्द भी प्रतिघात करता है। वायु की भांति द्वार में प्रवेश करता है और धुएं की भांति चारों ओर फैल जाता है, इसलिए वह मूर्त है।

जैन दार्शनिकों ने शब्द को केवल पौद्गलिक कहकर ही विश्राम नहीं लिया, किंतु उसकी उत्पत्ति, शीघ्रगति, लोकव्यापित्व, स्थायित्व आदि विभिन्न पहलुओं पर विशद विश्लेषण प्रस्तुत किया है। तार का संबंध न होने पर भी सुघोषा घंटा का शब्द असंख्य योजन दूरी पर रही हुई घंटाओं में प्रतिध्वनित होता है। यह विवेचन उस समय का है जबकि रेडियो, वायरलेस आदि का अनुसंधान ही नहीं हुआ था। हमारा शब्द क्षणमात्र में लोकव्यापी बन जाता है—यह सिद्धांत भी कोई ढाई हजार वर्ष पहले ही प्रतिपादित हो चुका था।[9]

शब्द पुद्गल का गुण क्यों नहीं ?

रूप, रस आदि की भांति शब्द भी उसका लक्षण होना चाहिए। जैसे वर्णादि क्रमशः चक्षु-इंद्रिय आदि के विषय हैं, वैसे ही शब्द श्रोत्रेंद्रिय का विषय है। अतः उसे भी पुद्गल का गुण मानना चाहिए। इसका उत्तर यह है कि गुण द्रव्य के लिंग होते हैं और वे सदा द्रव्य में रहते हैं। शब्द द्रव्य का गुण नहीं हो सकता, क्योंकि वह पुद्गल द्रव्य में नित्य रूप से नहीं पाया जाता है। उसे केवल पुद्गल का पर्याय ही कहा जा सकता है।

जैन दर्शन में शब्द यद्यपि अन्य इंद्रिय विषय—रस, स्पर्श की भांति पुद्गल का लक्षण नहीं है, तथापि उसे पौद्गलिक ही माना गया है। वह पुद्गल का कार्य अथवा अवस्था है। विज्ञान के अनुसार शब्द तरंग रूप में आकाश में घूमता है। तरंग दैर्घ्य का अंतर शब्द में आवाज की भिन्नता पैदा करता है। भौतिकविद् आर.एस. विलॉस ने 'टेक्स्ट बुक ऑफ फिजिक्स' में शब्द को कंपन (Vibration) से उत्पन्न माना है। वे कहते हैं—स्वर-मापक यंत्र, घंटी, पियानो की रस्सी, ऑरगन पाइप की हवा—ये सब चीजें शब्द पैदा करती हैं तब ध्वनि की अवस्था में होती हैं। जैन शास्त्रों में भी शब्द को ध्वनि रूप परिणाम कहा गया है।

माइक्रोफोन, रेडियो आदि यंत्रों में शब्द तरंगें विद्युत प्रवाह में परिवर्तित होकर आगे बढ़ती हैं और पुनः विद्युत प्रवाह शब्द तरंगों के रूप में परिणत हो जाता है। शब्द की गति 1100 मील प्रति घंटा है, किंतु वह विद्युत प्रवाह में प्रवाहित होकर रेडियो आदि यंत्रों के आधार पर विद्युत गति से आगे बढ़ जाता है। विश्व के किसी भी कोने में बैठा आदमी रेडियो, फोन (मोबाइल फोन भी)., टेलिविजन आदि के द्वारा बिना किसी अंतराल के ताजा समाचार सुन सकता है, बातचीत कर सकता है। जैन दर्शन ने शब्द की पौद्गलिकता सिद्ध करते हुए उसकी गति लोकांत तक बताई है। तीर्थंकरों की वाणी अव्याबाध रूप से 12 कि.मी. तक सुनी जा सकती है। विज्ञान ने यंत्रों के सहारे जैन सम्मत शब्द की अवधारणा को सरलता से समझाया है। सापेक्षता के सिद्धांत और कण-तरंग द्वैध (क्वांटम भौतिकी) ने शब्द का पदार्थत्व (पौद्गलिकता) सिद्ध कर दिया है। ❖

संदर्भ ग्रंथ

1. स्थानांग 2/220
2. जीव-अजीव पृ. 98
3. तत्त्वार्थ राज वार्तिक 5/24
4. स्थानांग 10/2
5. उत्तराध्ययन सूत्र पृ. 150
6. सर्वार्थसिद्धि
7. तत्त्वार्थसूत्र पृ. 186
8. विशेषावश्यक भाष्य (मलयवृत्ति) पृ. 575
9. जैन दर्शन मनन मीमांसा पृ. 208 ❖❖

एक ओर कहा जाता है—आवश्यकता आविष्कार की जननी है। दूसरी ओर कहा जाता है—आवश्यकताओं का अल्पीकरण करो। दोनों बातें एक-दूसरी से सर्वथा विपरीत हैं। एक का मुंह पूर्व की ओर है तो दूसरी का पश्चिम की ओर। गणित की भाषा में कहा जाए तो 36 की संख्या है।

विज्ञान सुख-सुविधा के लिए आविष्कार पर आविष्कार प्रस्तुत कर रहा है। उपग्रह आकाश का चक्कर लगा रहा है। मनुष्य दिन-प्रतिदिन विलासी बन रहा है।

दूसरी ओर अणुव्रत-आंदोलन कहता है—अपना संयम करो। उसका उद्घोष है—**संयमः खलु जीवनम्**—संयम ही जीवन है।

किसी को भ्रांति न हो इसलिए स्पष्ट कर देता हूं कि अणुव्रत-आंदोलन का विज्ञान के साथ विरोध नहीं है। बहुत गहरे में तो वह स्वयं एक विज्ञान है। विज्ञान यानी जीवन का विशिष्ट ज्ञान—आरोहण की सही दिशा। अणुव्रत-आंदोलन का सिद्धांत है—आवश्यकताओं का जितना अल्पीकरण होगा, जीवन उतना ही स्वस्थ, शांत एवं सुखमय बनेगा। मेरा विश्वास है, यदि मनुष्य शांति चाहता है तो उसे इस पथ में आना होगा। प्रश्न उठता है, मनुष्य की न्यूनतम आवश्यकताएं पूरी नहीं होंगी तो वह नैतिक कैसे बनेगा? इस प्रश्न का प्रतिप्रश्न यह भी तो है, क्या आवश्यकताओं की पूर्ति होने मात्र से मनुष्य सहज नैतिक बन जाएगा? स्पष्ट है, यह तो कम संभव है। अलबत्ता आवश्यकताओं की पूर्ति के बिना नैतिकता में सहयोग कम मिलता है, परंतु आवश्यकताओं की पूर्ति होने से व्यक्ति नैतिक बन ही जाएगा—इसमें मेरा विश्वास नहीं है।

व्रत आवश्यकताओं की पूर्ति होने और न होने से संबंधित नहीं है। उसका संबंध आत्मा से है, भावना से है। विलासी व्यक्ति व्रती नहीं बन सकता। खाना शरीर के लिए आवश्यक है, परंतु स्वाद का लोलुप व्रती कैसे बने! अणुव्रती विलासितापूर्ण जीवन को छोड़े।

—आचार्यश्री तुलसी

अनुभूति

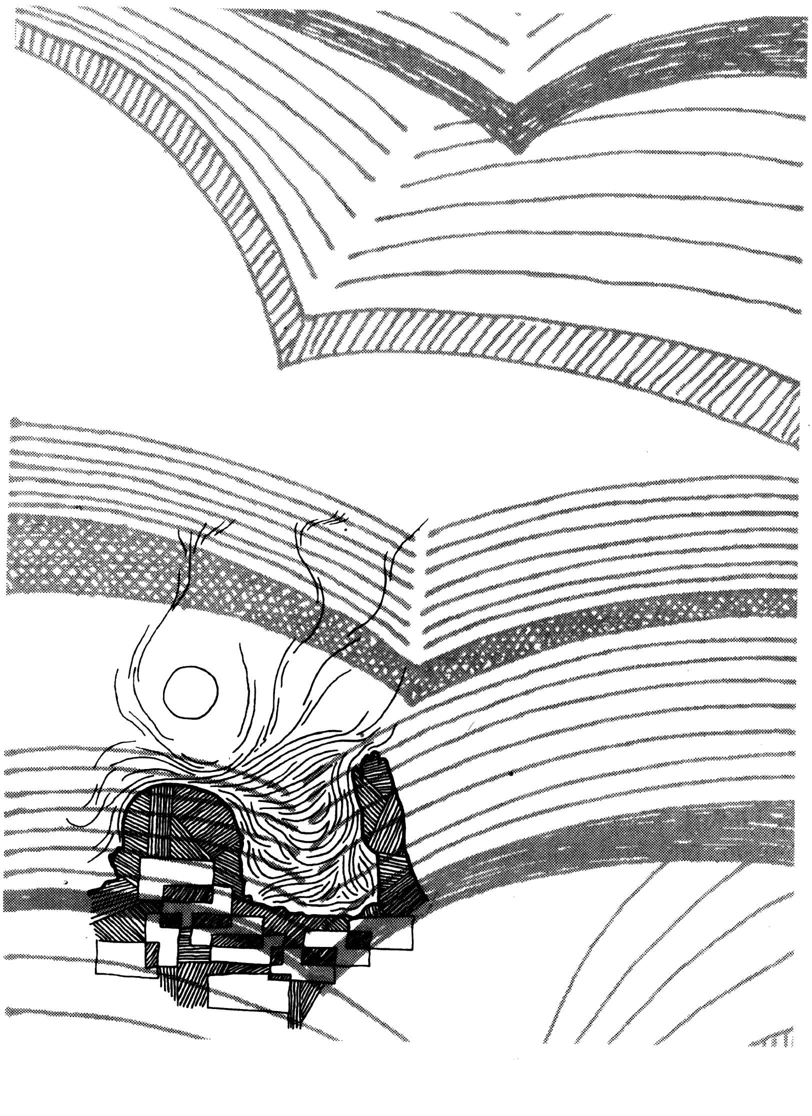

मेरी आवश्यकताएं परमात्मा की विभूति प्रकृति पूरी करती है। उसके रहते दूसरों का शासन कैसा? समस्त आलोक, चैतन्य और प्राणशक्ति प्रभु की दी हुई है। मृत्यु के द्वारा वही इसको लौटा लेता है। जिस वस्तु को मनुष्य दे नहीं सकता, उसे ले लेने की स्पर्धा से बढ़कर दूसरा दंभ नहीं। मैं फल-मूल खाकर, अंजलि से जलपान कर, तृण-शय्या पर आंख बंद किए सो रहा हूं। न मुझसे किसी को डर है और न मुझको डरने का कारण है। तुम ही यदि हठात् मुझे ले जाना चाहो तो केवल मेरे शरीर को ले जा सकते हो, मेरी स्वतंत्र आत्मा पर तुम्हारे देवपुत्र का भी अधिकार नहीं हो सकता!

—जयशंकर प्रसाद

चन्द्रगुप्त (नाटक) के एक पात्र
दाण्डयायन का संवाद

मनुष्य का इस विश्व के संबंध में अत्युत्कृष्ट सुसंपन्न विचार क्या है? यही कि वह चेतनता है। एक अंग का दूसरे अंग के साथ यथानियम रहना, चेतनता की अभिव्यक्ति, जिसकी प्राचीनों ने ईश्वरीय व्यवस्था के रूप में कल्पना और वर्णन करने की चेष्टा की थी। यह चेतना या प्रज्ञान ही सब का प्रारंभ है। आदि में वही चेतनता संकुचित रूप में रहती है और अंत को वही चेतनता विकसित हो जाती है। जो सारी चेतनता, विश्व-भर में है, संकुचित अवस्था में रहकर विकसित होती हुई परम-चेतना है। इसी विश्वव्यापक चेतनता को हम ईश्वर कहते हैं। इसे किसी नाम से कह लीजिए, पर यह निश्चित है कि आदि में यही अनंत जगदादिकारण चेतनता थी। यही मूल प्रकृति चेतनता संकुचित रहती है, फिर वही व्यक्त होती और विकसित होती जाती है, यहां तक कि वह आप्ततम पुरुष के रूप में प्रकट होती है।

❑ ❑❑❑

❑ जन्माद्यस्य यतः

❑ स्वामी विवेकानंद

'यह सृष्टि कहां से आई, जब न सत् था न असत् था, अंधकार अंधकार में छिपा था, तब इस सृष्टि को किसने प्रगट किया? कैसे प्रगट किया? इस रहस्य को कौन जानता है? और वही प्रश्न अब तक हमारे सामने ज्यों-का-त्यों बना है। इसके समाधान के लिए करोड़ों प्रयत्न हो चुके हैं। फिर भी इसके समाधान के लिए करोड़ों प्रयास आगे होते रहेंगे। यह बात नहीं है कि कोई उत्तर ही नहीं मिला। प्रत्येक उत्तर में कुछ-न-कुछ सत्य अवश्य है और इसी सत्य की जड़, ज्यों-ज्यों काल बीतता जाता है, दृढ़ होती जाती है।

देखिए, चारों ओर कैसे सुंदर फूल खिल रहे हैं, सूर्योदय कैसा सुहावना जान पड़ता है। प्रकृति अपने रंग-बिरंगे शृंगार में कैसी सुंदर दिखाई पड़ रही है। सारा विश्व मूर्तिमान सौंदर्य है। मनुष्य सृष्टि के आरंभ ही से इसके आनंद को लूट रहा है। पर्वत कैसे विशाल और गौरवपूर्ण हैं, महानदियां कैसी कलकल शब्द करती समुद्र की ओर बहती जा रही हैं, निर्जन मरुस्थल, अपार समुद्र और नक्षत्र मंडलों से सुशोभित आकाश, सब कैसे संभ्रमात्मक अद्‌भुत और मनोहर हैं। यह सारा संसार, जिसे हम प्रकृति कहते हैं अनादि काल से मनुष्य के अंतःकरण पर अपना प्रभाव डाल रहा है। इसका प्रभाव मनुष्यों के विचार पर पड़ता आया है और उसका प्रतिफल यह हुआ है कि उसके अंतःकरण में यह प्रश्न उत्पन्न हुआ कि यह सब क्या है और कहां से आया है? यहां तक कि मनुष्यों की अति प्राचीन रचना वेदों के अति प्राचीन भाग की रचना के काल में भी यही प्रश्न उठता दिखाई पड़ता है।

इसी प्राचीन प्रश्न में अनेक अंशों का समाधान है। सबसे पहली बात यह है कि यह कहा गया है कि एक समय ऐसा था जब सत् न था न असत् था, उस समय यह संसार कहीं था ही नहीं। यह पृथ्वी, जिस पर समुद्र, नदियां, पर्वत, नगर, ग्राम, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि और सूर्य, चंद्र, तारक, ग्रह, नक्षत्रादि सारी सृष्टि के अनंत भेद कुछ भी न थे। क्या हमें इसका निश्चय है? हम यह दिखाने की चेष्टा करेंगे कि इस परिणाम पर कैसे पहुंचे। मनुष्य को संसार में क्या दिखाई पड़ता है? एक पौधे को ले लीजिए। बीज भूमि में पड़ता है, फिर उसमें अंकुर निकल आता है, फिर वही अंकुर ऊपर को उठने लगता है और बढ़ते-बढ़ते एक बड़ा पेड़ हो जाता है। फिर वही फलता-फूलता और काल पाकर नष्ट हो जाता है और फिर उसका बीज मात्र रह जाता है। इस प्रकार एक चक्र पूरा हो जाता है। वह बीज से निकलता, वृक्ष होता, वृक्ष से बीज होता और पुनः चक्र परिवर्तित होता रहता है। यही गति पक्षियों की भी है—अंडे से पक्षी होते

हैं। इस प्रकार पक्षियों में भी वैसा ही चक्र चलता देखा जाता है। यही पशुओं का हाल है, यही मनुष्य का। प्रकृति के सारे पदार्थों की उपपत्ति किसी बीज या कारण से होती है। उसकी कुछ-न-कुछ प्रारंभिक सूक्ष्म अवस्था होती है, कुछ-न-कुछ सूक्ष्म रूप होता है और वही क्रमशः स्थूल होता जाता है। कुछ काल तक वे आप्यायित होते जाते हैं और अंततः वे फिर अपनी सूक्ष्मावस्था को प्राप्त होते-होते लय को प्राप्त हो जाते हैं। वर्षा की बूंद, जो सूर्य की किरण पड़ने से चमक रही है, समुद्र से भाप के रूप में उठी और वायु से होकर ऊपर गई, वहां वह ठंडी होकर पानी बनी और वहां से मेह होकर बरसी, वही फिर अंत को भाप बन जाएगी। यही दशा इस जगत में प्रकृति के सारे पदार्थों की है। हम जानते हैं कि बड़े-बड़े पर्वतों पर हिमनद और नदियां बहा करती हैं। उनकी गति से पर्वत धीरे-धीरे, किंतु अवश्य घिसते जाते हैं और पिस-पिसकर बालू बनकर समुद्र में पहुंचते रहते हैं, वहां तह पर तह जमते-जमते वही फिर चट्टान बनते और कठिन हो जाते हैं, वे ही फिर ढेर पर ढेर तह जमते-जमते आगे के पहाड़ बन जाते हैं। फिर पहाड़ बनकर घिसते-घिसते बालू बनते हैं। इसी प्रकार चक्र चल रहा है, रेत से पहाड़ बनते हैं, फिर वे रेत में मिल जाते हैं।

यदि यह ठीक है कि प्रकृति सर्वतोभावेन समान है और कोई मनुष्य अपने अनुभव द्वारा अब तक इसके विरुद्ध सिद्ध नहीं कर सका है, कि जिस नियम के अनुसार बालू का एक कण बनता है, उसी नियम का काम बड़े-बड़े सूर्य और ताराओं के बनने में दिखाई पड़ता है, यहां तक कि सारे विश्व की सृष्टि भी उसी नियम के अनुसार जान पड़ती है। यदि यह ठीक है कि सारे विश्व में एक धर्म व्याप्त है, तो जैसा कि सारे विश्व की सृष्टि ठीक उसी ढंग पर हुई है जिस पर एक अणु की सृष्टि हुई है, यदि यह ठीक है कि सारे विश्व में एक धर्म व्याप्त है तो जैसा कि वेदों में कहा गया है—'एक मिट्टी के ढेले को जान कर हम सारे विश्व की मिट्टी की बातें जान सकते हैं।' एक पौधे को ले लीजिए, उसके जीवन का मनन करने से हमें सारे विश्व का रहस्य बोध में आ जाता है। यदि हम बालू के एक कण का ज्ञान प्राप्त कर लें तो सारे विश्व का रहस्य हम पर प्रगट हो जाएगा। विश्व के चरित पर इस तर्क को लगाने से हमें यह जान पड़ता है कि पहले तो सारी बातें आदि से अंत तक एक ही प्रकार की हैं। पर्वत बालू से बनते हैं और अंत को बालू ही में मिल जाते हैं। नदियों का जल भाप से बनता है और अंत को फिर भाप बन जाता है। वनस्पतियां बीज से होती है और अंत को बीज ही हो जाती हैं। मनुष्य मनुष्य के वीर्य से उत्पन्न होता है और अंत को वह वीर्य के रूप में परिणाम को पहुंचते हैं। तारे, नदियां और ग्रह-उपग्रह सब सूक्ष्म अवस्था से स्थूल दशा को प्राप्त हुए हैं और अंत को फिर उसी सूक्ष्मावस्था को प्राप्त होते हैं। इससे हमें क्या शिक्षा मिलती है? यही न कि स्थूलावस्था कार्य है और सूक्ष्मावस्था उसका कारण या परिणाम है। सहस्रों वर्ष हुए आदि दर्शनकार भगवान कपिल ने यह निश्चय किया था कि—'नाशः कारणलयः'—अर्थात् नाश कहते हैं अपने कारण में लय होने को। यदि यह मेज नाश हो जाए तो अपने कारण में लय हो जाएगी, उन सूक्ष्म रूपों और अणुओं में परिणत हो जाएगी, जिनके संयोग से इसने यह रूप धारण किया था, जिसे हम मेज कहते हैं। यदि मनुष्य मर जाता है तो वह उन तत्त्वों को प्राप्त होता है जिनके संयोग से उसके शरीर का निर्माण हुआ था। इसी प्रकार यदि इस पृथ्वी का नाश हो जाए तो यह भी उन तत्त्वों में परिणत हो जाएगी जिनसे इसकी यह आकृति बनी थी। इसी का नाम नाश है, अर्थात् अपने कारण में लौट जाना। इसलिए हमने जाना कि कार्य कारण से भिन्न नहीं है, अपितु दोनों एक ही हैं। कार्य कारण का केवल रूपांतरित होना मात्र है। यह आईना कार्य मात्र है, इसका कारण है और वह कारण इस रूप में विद्यमान है। कुछ कांच नामक द्रव्य बनाने वाले के हाथ की शक्ति का योग कारण है, जिनके नाम क्रम से उपादान और निमित्त कारण हैं, वे परस्पर मिलकर इस कार्य को, जिसे हम आईना कहते हैं—उत्पन्न करते हैं। बनाने वाले के हाथ की शक्ति आईने में आसक्ति रूप से विद्यमान है और यदि वह न रहती तो उसके एक-एक अणु अलग हो जाते हैं और कांच द्रव्य भी विद्यमान ही है। आईना इन्हीं सूक्ष्म कारणों की नए रूप में एक अभिव्यक्ति मात्र है। और यदि चूर-चूर कर दिया जाए तो वह शक्ति, जो इन अणुओं में बांधे हुए थी, निकल जाएगी और अपने तत्त्व में लय हो जाएगी। केवल कांच के अंश रह जाएंगे और तब तक रहेंगे जब तक कि किसी नवीन रूप को न धारण करें।

इस प्रकार हमें यह स्पष्ट जान पड़ता है कि कार्य कारण से भिन्न नहीं है। बात यह है कि कार्य कारण की स्थूल रूप में केवल एक पुनरुत्पत्ति मात्र है। पुनः हमें इसकी सीख मिलती है कि सारे भिन्न-भिन्न रूप-विशेष, जिन्हें हम मनुष्य, पशु, वनस्पति आदि कहते हैं, अनादि काल से बराबर बनते और बिगड़ते, आविर्भूत और

तिरोभूत होते आ रहे हैं। बीज से वृक्ष की उत्पत्ति होती है। वृक्ष से बीज उत्पन्न होता है और वही पुनः दूसरे वृक्ष के रूप में प्रादुर्भूत हो जाता है और इसी प्रकार यह क्रिया होती रहती है। इसका कोई अंत नहीं है। जो पानी की बूंद पर्वत पर बरसकर उससे नीचे को ढलकती हुई समुद्र में पहुंचती है वही फिर भाप बनकर ऊपर जाती है और पर्वत पर पहुंचती है और पुनः समुद्र को प्राप्त होती है। इस प्रकार चक्र का आरोह और अवरोह होता रहता है। ये बातें सारे प्राणियों और सारी सत्ताओं के संबंध में है जो हमें देख पड़ती, सुनाई पड़ती हैं। इस प्रकार आविर्भूत और तिरोभूत होते रहते हैं जैसे हमारा श्वास हमारे नथुनों से बाहर निकलता और पुनः भीतर जाता रहता है। सृष्टि के सारे पदार्थों की दशा समुद्र की लहरों की-सी है। एक लहर उठती है और दूसरी बैठती, इस प्रकार उठना और बैठना लगा रहता है। प्रत्येक लहर के साथ अवकाश होता है और प्रत्येक अवकाश के पीछे लहर लगी हुई है। यही नियम सारे विश्व को एक मानकर उस पर लगाया जा सकता है, क्योंकि उसमें समता है। यह सारा विश्व अवश्य अपने कारण में लय हो जाएगा—सूर्य, चंद्र, तारे, पृथ्वी, शरीर, मन और विश्व के सारे पदार्थ अपने सूक्ष्म कारणों को प्राप्त होंगे, लय प्राप्त होंगे, विलीन हो जाएंगे, तिरोहित होंगे, मानो नाश हो जाएंगे। पर, वे अपने कारणों में सूक्ष्म रूप से विद्यमान रहेंगे। इन्हीं सूक्ष्म रूपों से वे पुनः नई पृथ्वी, नए सूर्य, चंद्र आदि रूप में प्रगट होंगे।

इनके इस आविर्भाव और तिरोभाव या उत्पत्ति और लय के संबंध में एक बात और विचारणीय है। बीज वृक्ष से तो उत्पन्न होता है, पर वह उसी क्षण वृक्ष नहीं हो जाता है, उसे कुछ काल विराम के लिए भी अपेक्षित है। अथवा परिणाम शक्ति का एकदम विराम न कहकर कह लीजिए कि उस समय उसमें बहुत सूक्ष्म परिवर्तन होते हैं जो व्यक्त नहीं कहे जा सकते। बीज को कुछ काल तक भूमि के भीतर काम करना पड़ता है, उसमें परिणाम होता रहता है। वह खंड-खंड हो जाता है, मानो वह प्रध्वंस होता है, उसी प्रध्वंस से उसकी पुनरुत्पत्ति है। प्रारंभ में सारा विश्व इसी प्रकार सूक्ष्म रूप या कारण रूप था, उसमें यों ही परिवर्तन होता रहा है और इस दशा में यह बहुत दिनों तक अपनी सूक्ष्मावस्था में अदृष्ट और अव्यक्त पड़ा रहा। इसी का नाम पुराणों में प्रलय या महा-प्रलय है और इसी अव्यक्त दशा से यह फिर व्यक्त रूप में प्रगट हुआ है। इस विश्व की एक अभिव्यक्ति, फिर सूक्ष्म रूप में लय, फिर कुछ काल तक उस अवस्था में रहने और फिर व्यक्त होने तक के काल की संस्कृत में कल्प संज्ञा है। इसे संवर्त या चक्र भी कहते हैं। अब एक बहुत ही उपयोगी प्रश्न आता है, जो आधुनिक लोगों के लिए बहुत ही काम का है। हम देखते हैं कि सूक्ष्म दशा से आप्यायन धीरे-धीरे होता है और वह क्रमशः स्थूल दशा को प्राप्त होता है। हम देख चुके हैं कि जो कारण है वही कार्य है और कार्य कारण का रूपांतर मात्र है। अतः यह विश्व कभी शून्य से उत्पन्न या प्रादुर्भूत हो ही नहीं सकता। कोई वस्तु अकारण नहीं हुआ करती, कारण भी तो रूपांतर में कार्य ही है।

फिर यह विश्व हुआ कहां? यह पूर्व के विश्व के सूक्ष्म रूप से निकला—यही उत्तर है। मनुष्य की उत्पत्ति किससे हुई? पूर्व के सूक्ष्म मनुष्य से। वृक्ष कहां से उत्पन्न हुआ? बीज से। सारा वृक्ष बीज में कारण रूप से विद्यमान था। वह निकला और वही व्यक्त हुआ। सारा विश्व उसी कारण रूप विश्व से उत्पन्न हुआ, जिसमें वह अव्यक्त या सूक्ष्म रूप से तिरोहित था। वही अब व्यक्तावस्था को प्राप्त हुआ है। वह फिर अपनी अव्यक्तावस्था को प्राप्त होगा और पुनः व्यक्त होगा। हम यह भी देखते हैं कि सूक्ष्म रूप क्रमशः व्यक्त होते और स्थूल रूप धारण करते जाते हैं, यहां तक कि अपनी पराकाष्ठा को पहुंच जाते हैं और तब फिर क्रमशः सूक्ष्म होते जाते हैं और अव्यक्तावस्था को प्राप्त हो जाते हैं। अव्यक्तावस्था से निकलकर व्यक्त होना और स्थूल दशा को प्राप्त होना मानो केवल अंशों के क्रम में परिणाम होना है और इसी को आधुनिक समय में विकास या आरोह कहते हैं। यह बहुत ठीक है और यथार्थ सत्य है, यह हमें जीवन में प्रत्यक्ष देख पड़ता है। कोई समझदार मनुष्य संभवतः विकास या आरोहवादियों से विवाद नहीं कर सकता। पर, हमें एक बात और जानने की आवश्यकता है। हमें एक पग और आगे जाना है और वह यह है कि प्रत्येक विकास या आरोह के पूर्व एक संकोच या अवरोह लगा हुआ है। बीज वृक्ष का कारण तो है, पर दूसरा वृक्ष उस बीज का भी कारण था। वृक्ष एक सूक्ष्म रूप है जिससे एक बड़ा वृक्ष निकलता है, पर दूसरा बृहत् वृक्ष भी एक रूप ही था जो संकुचित रूपक बीज के रूप में आया था। यह सारा विश्व उसी कारण रूप सूक्ष्म विश्व में विद्यमान था। वह छोटा कोश, जो पीछे मनुष्य के रूप में परिणत हो जाता है, केवल संकुचित मनुष्य मात्र ही था और वही विकास पाकर मनुष्य हो गया। यदि यह स्पष्ट है तो हमें विकासवादियों से कोई विवाद नहीं है। क्योंकि हम देखते

हैं, यदि वे इस क्रम को स्वीकार कर लेते हैं, तब तो धर्म को नष्ट करने के स्थान पर उनसे धर्म को बड़ी सहायता मिल जाती है।

हम देखते हैं कि असत् से सत् की उत्पत्ति हो नहीं सकती। सब-कुछ अनादि काल से चले आ रहे हैं और अनंत काल तक चले जाएंगे। गति केवल समुद्र की लहरों और गड्ढों की भांति होती है, जहां लहर उठी कि गड्ढा पड़ा, गड्ढा पड़ा कि लहर उठी, स्थूल रूप सूक्ष्म कारण रूप में परिवर्तित हुए और फिर वही स्थूल कार्य-रूप में प्रगट हुए। सारी प्रकृति में यह आरोह और अवरोह का चक्र चलता रहता है। सारे आरोहों की श्रृंखला, जो छोटे-छोटे व्यक्ति से प्रारंभ होकर ऊंचे व्यक्ति तक, अर्थात् सर्वांगपूर्ण मनुष्य तक पहुंची है, वह भी किसी अन्य वस्तु का अवरोह ही होना चाहिए। अब प्रश्न यह है कि वह किसका संकोच या अवरोह है? किसका अवरोह हुआ? कौन संकुचित दशा को प्राप्त हुआ? विकासवादी तो चट यह कह देंगे कि आपका यह विचार कि ईश्वर का अवरोह हुआ है, भ्रम है। यदि कारण पूछिए तो वे कहेंगे कि आप तो ईश्वर को चेतन बताते हैं, पर चेतनता का विकास तो आरोह को क्रम में बहुत पीछे मिलता है। मनुष्य और ऊंचे प्राणियों में ही तो हमें चेतनता देख पड़ती है, किंतु इस चेतनता का आविर्भाव होने के पहले इस संसार में करोड़ों वर्ष बीत चुके हैं। आगे चलकर जब इस सिद्धांत को काम में लाएंगे तब जान पड़ेगा कि विकासवादियों की इस आपत्ति में कुछ सार नहीं है। वृक्ष बीज से उत्पन्न होता है और अंत को बीज ही हो जाता है। आरंभ और अंत एक ही है। पृथ्वी अपने कारण से उत्पन्न होती और फिर कारण ही में लय को प्राप्त हो जाती है। इससे यह स्पष्ट है कि यदि हमें आदि का पता लग जाए, तो हमें अंत का पता लग जाता है। इसके विपरीत यदि हमें अंत का ज्ञान हो जाए तो हमें आदि का ज्ञान हो सकता है। यदि यह ठीक है तो सारे विकास या आरोह की समूची श्रृंखला को 'प्रोटोप्लाज्म' या एकेंद्रिय जंतु को एक ओर और पूर्ण मनुष्य को दूसरी ओर समझ कर एक ही जीवन मान लीजिए। यदि पूर्ण पुरुष इसके एक किनारे पर है, फिर दूसरे किनारे पर भी उसी को होना चाहिए। अतः 'प्रोटोप्लाज्म' या एकेंद्रिय जंतु किसी सर्वोच्च प्राणी का अवरोह या संकोच था। चाहे उसे न देख सकते हों। पर वही संकुचित चेतनता विकसित हो रही है और होती जाएगी, यहां तक कि पूर्ण पुरुष के रूप में वह व्यक्त हो जाएगी। यह गणित की रीति से सिद्ध किया जा सकता है। यदि शक्ति के संभरण का नियम ठीक है तो यंत्र से कुछ शक्ति नहीं मिल सकती है, जब तक कि आप उसे उसमें न भरें। जो काम आप यंत्र से लेते हैं, वह उतना ही है जितना आपने कोयला-पानी के रूप में यंत्रकला में डाला है। वह उतना ही है, न कम न अधिक। वह काम, जो हम कर रहे हैं, वही है जो हमने अन्न, पानी और वायु के रूप में अपने भीतर भरा है। केवल परिवर्तन और अभिव्यक्ति की ही बात है। इस विश्व में न तो एक अणु-भर द्रव्य, न पैसा-भर शक्ति बढ़ाई या घटाई जा सकती है। यदि ऐसी बात है तो यह चेतनता है क्या? यदि एकेंद्रिय 'प्रोटोप्लाज्म' में न थी, तो क्या अचानक कूद पड़ी या असत् या शून्य से सत् रूप में प्रगट हो गई? यह बात तो नितांत अनर्गल है। इससे यह आता है कि आप्त पुरुष, मुक्त पुरुष, देव पुरुष—जो प्रकृति के बंधन से परे गया और सब को अतिक्रमण कर गया, जो विकास क्रम की पराकाष्ठा पर पहुंच गया और जन्म-मरण के बंधन से विनिर्मुक्त हो गया। जिसे ईसाई लोग ईसा, बौद्ध बुद्ध और योगीजन मुक्त कहते हैं। वही आप्त पुरुष जो विकास या अवरोह की श्रृंखला की एक छोर पर है, वही संकुचित हो एकेंद्रिय जंतु के कोशरूप में विद्यमान है, जो विकास की श्रृंखला की निचली छोर है।

इसी न्याय को सारे विश्व पर लगाने से हमें जान पड़ता है कि चेतनता ही इस सृष्टि की परमेश्वरी है, वही सब का मूल कारण है। मनुष्य का इस विश्व के संबंध में अत्युत्कृष्ट सुसंपन्न विचार क्या है? यही कि वह चेतनता है। एक अंग का दूसरे अंग के साथ यथानियम रहना, चेतनता की अभिव्यक्ति, जिसकी प्राचीनों ने ईश्वरीय व्यवस्था के रूप में कल्पना और वर्णन करने की चेष्टा की थी। यह चेतना या प्रज्ञान ही सब का प्रारंभ है। आदि में वही चेतनता संकुचित रूप में रहती है और अंत को वही चेतनता विकसित हो जाती है। जो सारी चेतनता, विश्व-भर में है, संकुचित अवस्था में रहकर विकसित होती हुई परम-चेतना है। इसी विश्वव्यापक चेतनता को हम ईश्वर कहते हैं। इसे किसी नाम से कह लीजिए, पर यह निश्चित है कि आदि में यही अनंत जगदादिकारण चेतनता थी। यही मूल प्रकृति चेतनता संकुचित रहती है, फिर वही व्यक्त होती और विकसित होती जाती है, यहां तक कि वह आप्ततम पुरुष के रूप में प्रगट होती है, जिसे ईसा या बुद्ध आदि कहा करते हैं। फिर यह अपने मूल को लौटती है। यही कारण है कि सब धर्मग्रंथ कहते हैं कि उसी में हम जन्म लेते, उसी में रहते और उसी में हमारी सत्ता है। यही कारण है कि सब

धर्मग्रंथ इसका उपदेश करते हैं कि हम ईश्वर से आए हैं और ईश्वर में जाएंगे। धर्म के पारिभाषिक शब्दों को सुनकर घबड़ाओ मत, यदि उनसे आपको भय लगता है तो आप दार्शनिक होने योग्य नहीं हैं। यही जगदादिकारण चेतनता ही को लोग धार्मिक परिभाषा में ईश्वर कहते हैं।

लोगों ने बार-बार यह प्रश्न मुझ से किया है कि आप पुराने-धुराने शब्द ईश्वर का प्रयोग क्यों करते हैं? इसका कारण यह है कि यही एक श्रेष्ठ शब्द हमारे काम के लिए उपयुक्त है। आपको इससे अच्छा शब्द मिल नहीं सकता है। इसका कारण यह है कि मनुष्य जाति की सारी आशाओं, आकांक्षाओं और आनंदों का आलय यही एक शब्द है। अब इस शब्द को छोड़ कर दूसरे शब्द का उसके स्थान पर ग्रहण करना असंभव है। इस प्रकार के शब्दों को आदि में उन बड़े-बड़े महर्षियों ने गढ़ा है, जिन लोगों ने उनके भावगौरव को जाना और अर्थों को समझा था। पर, जब उनका प्रचार समाज में हो गया तो अज्ञानी लोगों ने उनका व्यवहार करना प्रारंभ कर दिया, जिसका परिणाम यह हुआ कि उनका भाव और महत्त्व जाता रहा। ईश्वर शब्द अनादि प्राचीन काल से प्रयोग होता चला आ रहा है और इस जगदादिकारण चेतनता का भाव तथा और जो-कुछ श्रेष्ठता और महत्त्व की बातें हैं, सब इसी शब्द में समावेशित हैं। क्या आपका यह तात्पर्य है कि कुछ मूर्ख लोग कहा करते हैं कि यह शब्द ठीक नहीं है, इसी कारण हम भी इसे त्याग दें? फिर तो कोई एक आकर कहेगा कि 'मेरा शब्द लीजिए' और कोई दूसरे महाशय आकर कहेंगे कि 'मेरा शब्द लीजिए'। फिर तो ऐसे व्यर्थ के शब्दों का कोई अंत ही न रह जाएगा। प्राचीन शब्दों का ही प्रयोग करना भला है। उसमें इतने मात्र का विचार होना चाहिए कि उनका प्रयोग ठीक अर्थ में होना चाहिए और इस ढंग से पुराने पक्षपात के अर्थों का लेश भी न रह जाए तथा ठीक रूप से यह समझना चाहिए कि इन प्राचीन महत्त्वपूर्ण शब्दों का वास्तविक अर्थ क्या है। यदि आपको साहचर्य की शक्ति के नियम का कुछ बोध है तो आपको ज्ञात हो जाएगा कि इस शब्द के साथ कितने अनगिनत महत्त्वपूर्ण और ओजस्वी भाव लगे हुए हैं। उनका प्रयोग और मान करोड़ों मनुष्य करते आ रहे हैं और उनके साथ मनुष्य प्रकृति में जितने कुछ सर्वोत्कृष्ट, श्रेष्ठ, युक्तियुक्त, परमश्रद्धेय और महत्त्वपूर्ण भाव हैं—उन्हें लगाते आ रहे हैं। वे शब्द उन सब भावों के साहचर्य की व्यंजना करते हैं, उनका परित्याग हो कैसे सकता है? यदि हम इन सब बातों को प्रगट करना चाहते और आपको केवल इतना कह देते कि ईश्वर ने यह सब रचा है, तब तो आपकी समझ में उसका कोई अर्थ ही न आता। पर इतना प्रयास करने पर अब हम उसी पुराणपुरुष और परमात्मा ईश्वर पर आकर पहुंचे हैं।

अब हम यह देखते हैं कि सृष्टि की शक्ति के भिन्न-भिन्न रूप, जैसे—द्रव्य, बुद्धि, बल, चेतनता इत्यादि सब उसी जगदादिकारण चेतनता की सर्गकारी अभिव्यक्तियाँ मात्र हैं। उसको हम अब आगे महाप्रभु या भगवान कहेंगे। जो-कुछ आप देखते-सुनते या समझते हैं, वह सारा विश्व उसी की सृष्टि है, यदि और अधिक ठीक-ठीक कहें तो उसी का प्रसार है और यदि और यथार्थ पूछते हो तो साक्षात् स्वयं ब्रह्म ही है। यह वही है जो सूर्य और ताराओं में चमक रहा है, वही जगदात्री पृथ्वी है, वही साक्षात् समुद्र है। वही पानी होकर बरसता है, वही युवा रूप होकर हमारे श्वास-प्रश्वास के द्वारा भीतर जाता-आता रहता है, वही हमारे शरीरों में बलरूप होकर कर्म कर रहा है। वही वाणी है जो कही जा रही है, वही वक्ता है जो कह रहा है, वही श्रोता है जो सुन रहा है, वही यह वेदी है जहां मैं खड़ा हूं, वही प्रकाश है जिससे मैं आपको देखता हूं, वही सब-कुछ है। वही इस विश्व का उपादान और निमित्त कारण है। वही संकुचित होकर क्षुद्र कोश में प्रविष्ट होता है, वही पुनः विकसित होकर अंत को ईश्वर हो जाता है। वही है जो नीची अवस्था को प्राप्त होता और अणुरूप में प्रगट होता है। वही धीरे-धीरे विकसित होते-होते अपने गुणों को फैलाकर ब्रह्मरूप हो जाता है। यही विश्व का रहस्य है। तू ही पुरुष है, तू ही स्त्री है, तू ही जवान बन के अकड़ता हुआ चलता है, तू ही बुड्ढा होकर लकड़ी टेकता धीरे-धीरे पैर बढ़ाता है। इस सृष्टि के रहस्य का यही समाधान है, इसी से मनुष्य की बुद्धि को शांति मिलती है। सारांश यह है 'जन्माद्यस्य यतः' अर्थात् यह सब उससे उपजते, उसी में रहते और उसी में लय को प्राप्त होते हैं।

समस्त निजी वस्तुओं का त्याग सच्ची स्वतंत्रता की भावना जगाता है; स्वतंत्रता से आनंद और आनंद से संतोष का जन्म होता है, और संतोष से चित्त की स्वतंत्रता और उल्लास का भाव उत्पन्न होता है।

—हेलेना रेरिख

भारतीय समाज की प्रमुख विशेषता ही संयुक्त परिवार प्रणाली रही है। जहां विश्व की अधिकांश सभ्यताओं में व्यक्तिवादी प्रवृत्ति और एकल परिवार दृष्टिगोचर होते हैं—जिनमें केवल पति-पत्नी तथा अविवाहित बालक ही सम्मिलित होते हैं, वहीं भारतीय परंपरा में संयुक्त परिवार प्रणाली का आदर्श विद्यमान रहा है। जहां परस्परता, एकता, सौहार्द, प्रेम, सामंजस्य—ये गुण विकसित होते हैं, वहां परिवार का वातावरण आनंद, सुख व शांति से सराबोर रहता है। जहां छोटी-छोटी बातों में 'तू-मैं' होता है, वहां परस्पर अनबन, टूटन आदि दुर्गुण वृद्धिंगत होते हैं और परिवार का वातावरण नारकीय होने लगता है।

सहजीवन : साझा विकास

समणी हिमप्रज्ञा

विश्व की प्राचीन संस्कृतियों को मुख्यतः तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है—(1) व्यक्तिप्रधान (2) समाजप्रधान (3) परिवारप्रधान। भारतीय संस्कृति व्यक्तिप्रधान है, यूनानी संस्कृति समाजप्रधान है और चीन की संस्कृति परिवारप्रधान है। इन तीनों ही संस्कृतियों में परिवार का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। परिवार ही शिशु निर्माण की आधारशिला है।

मानव-समाज के संपूर्ण इतिहास में सामाजिक नियंत्रण का सबसे प्रभावपूर्ण अभिकरण परिवार है। कहा भी गया है कि परिवार एकमात्र ऐसा समूह है जो बच्चों के सामाजिक जीवन और आदर्शों का निर्माण करता है। बच्चों का पालन-पोषण, संस्कृति की सीख तथा एक-दूसरे को सहयोग देने की शिक्षा आदि परिवार के ऐसे कार्य हैं जो किसी भी दूसरे मानव-समूह द्वारा इतने विशुद्ध तथा अनौपचारिक रूप से पूरे नहीं किए जा सकते। समाज के अस्तित्व की रक्षा करने वाले सभी कार्यों को पूरा करने का दायित्व परिवार का है और इसी आधार पर सभी विद्वान परिवार को न केवल सामाजिक संरचना की केंद्रीय इकाई मानते हैं, बल्कि विकास की बुनियाद भी मानते हैं। आज तक मनुष्य ने जो भी विकास किया है, जो भी गुण, विशिष्टताएं एवं शक्ति अर्जित की है—वह असंभव होती यदि उसने स्वयं को अपने बांधवों, कुल, जाति, समाज या परिवार से पृथक् कर लिया होता।

परिवार समाज की प्रारंभिक इकाई है। मनुष्य का जन्म और विकास परिवार से ही प्रारंभ होता है। प्रत्येक समाज में, चाहे वह आदिम हो या आधुनिक—परिवार का होना अत्यावश्यक है। बिना परिवार के समाज का अस्तित्व और निरंतरता नहीं रह सकती। अतः परिवार मौलिक और सार्वभौम संस्था है। उस पर प्रत्येक समाज का अस्तित्व निर्भर है।

आचार्यश्री तुलसी परिवार को समूह-चेतना का प्रतीक मानते थे। उनके अनुसार परिवार में चार व्यक्तियों की विवेक चेतना का जागरण पूरे समूह में नई जागृति भर सकता है। जहां सुषुप्ति है वहां किसी भी सदस्य का निर्माण संभव नहीं। परिवार निर्माण में निम्नांकित सूत्र महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकते हैं—

- सामूहिक जीवन में शांत सहवास का प्रयोग।
- जीवन को अंतरंग और बहिरंग—दोनों ओर से स्वस्थ रखने का प्रयोग।
- बच्चों के संस्कार निर्माण की दृष्टि से पारिवारिक स्तर पर धार्मिक अनुष्ठानों का आयोजन।
- वेशभूषा, रहन-सहन, भोजन आदि में संयम और स्वच्छता का प्रयोग।
- पारिवारिक स्पष्टता और विश्वास को अर्जित करने तथा कुंठा निवारण के लिए नियमित रूप से गोष्ठियों का आयोजन।

इन बिंदुओं का परिवार में निरंतर प्रयोग होने से प्रत्येक परिवार विकास के शिखर को छू सकता है। इनकी कमी के कारण अनेक प्रकार की समस्याएं उभर रही हैं, जिनकी सामान्य व्यक्ति कल्पना भी नहीं कर सकता।

आधुनिक परिवार की समस्याएं

जब से परिवार नाम की संस्था का उदय हुआ, तभी से कुछ परिवार ऐसे अवश्य रहे हैं जिनके सदस्यों के आपसी संबंध ठीक नहीं रहे, फिर भी उन सदस्यों के बीच समस्याएं कम थीं। आधुनिक परिवार के सदस्यों में अनेक प्रकार की समस्याएं उभर रही हैं, जैसे—बेरोजगारी, तलाक, मनमुटाव, आकस्मिक दुर्घटना, तनाव, सामंजस्य का अभाव, स्वार्थ, पक्षपात, असहिष्णुता, अनुशासनहीनता आदि। ये ऐसी समस्याएं हैं जिनके परिणामस्वरूप परिवार बिखर रहे हैं।

पारिवारिक विघटन

पारिवारिक विघटन—चाहे पारस्परिक निष्ठा और पारस्परिक नियंत्रण की कमी से संबंधित हो अथवा व्यक्तिवादी मनोवृत्ति से—वस्तुतः सदस्यों के बीच मतैक्य और निष्ठा का अभाव हो जाने से ही परिवार का विघटन होता है। समाजशास्त्री जहां पारिवारिक तनाव, विरोधी स्वभाव, आर्थिक संकट, एकता में कमी एवं पारिवारिक नियंत्रण में कमी को पारस्परिक विघटन का कारण मानते हैं, वहीं आचार्यश्री तुलसी व्यक्तिवादी मनोवृत्ति, असहिष्णुता, संदेह, अहंकार आदि तत्त्वों को विघटन का मुख्य निमित्त मानते हैं। वे पारिवारिक विघटन का सबसे बड़ा कारण पश्चिमी सभ्यता के प्रभाव को भी मानते हैं। वे कहते थे—पश्चिमी सभ्यता की घुसपैठ ने परिवार में बिखराव तो ला ही दिया, अकेलेपन की समस्या का समाधान भी नहीं दिया।

सौहार्दपूर्ण सहवास के कुछ तत्त्व

शांत एवं सौहार्दपूर्ण सहवास के लिए परिवार के प्रत्येक सदस्य में निम्नांकित गुणों का होना आवश्यक है—(1) सहनशीलता (2) स्नेहशीलता (3) श्रमशीलता (4) पारस्परिक विश्वास (5) विचारों का अनाग्रह (6) सेवाभावना एवं मिलनसारिता। इन गुणों के होने से सैकड़ों व्यक्ति भी शांति से साथ रह सकते हैं और इनके अभाव में पति-पत्नी का साथ रहना भी कठिन हो जाता है। वर्तमान समय में इन गुणों का तेजी से ह्रास हो रहा है।

जो संयुक्त परिवार प्रणाली हमारे यहां इतनी समृद्ध थी, वह अब कुछ अंशों में ही नजर आ रही है। असहिष्णुता, स्वार्थी वृत्ति परिवार के सुख-चैन को खोखला कर रही है। आज स्वतंत्र(?) रहने की मनोवृत्ति बढ़ रही है। आज कोई भी व्यक्ति किसी का हस्तक्षेप नहीं चाहता। ऐसी स्थिति में संयुक्त परिवार की कल्पना कैसे की जा सकती है? आचार्यश्री तुलसी के अनुसार आज भी संयुक्त परिवार की उतनी ही आवश्यकता है, जितनी विगत समय में रही है।

संयुक्त परिवार प्रणाली

भारतीय समाज की प्रमुख विशेषता ही संयुक्त परिवार प्रणाली रही है। जहां विश्व की अधिकांश सभ्यताओं में व्यक्तिवादी प्रवृत्ति और एकल परिवार दृष्टिगोचर होते हैं—जिनमें केवल पति-पत्नी तथा अविवाहित बालक ही सम्मिलित होते हैं, वहीं भारतीय परंपरा में संयुक्त परिवार प्रणाली का आदर्श विद्यमान रहा है। जहां परस्परता, एकता, सौहार्द, प्रेम, सामंजस्य—ये गुण विकसित होते हैं, वहां परिवार का वातावरण आनंद, सुख व शांति से सराबोर रहता है। जहां छोटी-छोटी बातों में 'तू-मैं' होता है, वहां परस्पर अनबन, टूटन आदि दुर्गुण वृद्धिंगत होते हैं और परिवार का वातावरण नारकीय होने लगता है।

पति-पत्नी के संबंधों में भी संयुक्त परिवार की अहम भूमिका रहती है। पारस्परिक संबंधों की मधुरता के लिए संयुक्त परिवार की आवश्यकता कई स्तरों पर पुनः महसूस की जा रही है। अकेला व्यक्ति अपने मन की बात किसको कहे? मन की बात कोई सुनने वाला न होने से वह भीतर-ही-भीतर कुंठित होता है। कुंठित व्यक्ति में नई-नई बीमारियों का जन्म होता है। परिणामस्वरूप उसके इर्द-गिर्द निराशा, हताशा आदि मंडराते रहते हैं। आज के वैज्ञानिकों की अवधारणा है कि अपने मस्तिष्क में अनावश्यक कचरा एकत्रित न होने दें। अपने 'ब्रेन' को खाली रखना आवश्यक है। 'ब्रेन' जितना खाली होता है, उतना ही वह अच्छा कार्य कर सकता है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी भी यही मानते हैं कि जिसका मस्तिष्क स्वस्थ है, वही व्यक्ति अच्छा काम कर सकता है। सामुदायिक चेतना का विकास होने से शायद कुछ सीमा तक अकेलेपन की समस्या का समाधान हो सकता है।

जहां सामुदायिक चेतना का जागरण होता है वहां अनेक प्रकार की समस्याएं स्वयमेव समाहित हो जाती हैं। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने पिछले वर्ष को 'भिक्षु निर्वाण द्विशताब्दी' के रूप में घोषित किया था और इसकी आराधना हेतु उन्होंने पांच सूत्र दिए थे। वे निम्नांकित

हैं—(1) सहिष्णुता (2) विनम्रता (3) सामंजस्य (4) शांतिपूर्ण सहवास (5) और सामुदायिक चेतना का विकास। इन सूत्रों से व्यक्तिगत स्तर पर, पारिवारिक स्तर पर एवं सामाजिक स्तर पर परिवर्तन घटित हो सकता है। जिस परिवार में उपरोक्त गुणों का विकास होता है—वहां सौहार्द और प्रेम का वातावरण निर्मित होने लगता है। ये पांचों सूत्र एक-दूसरे के पूरक हैं। एक का विकास होने पर दूसरे का विकास स्वतः होता है।

बच्चों में संस्कार-वपन

बच्चों के संस्कार-जागरण में भी सामूहिक जीवन का महत्त्वपूर्ण योगदान हो सकता है। दादी, नानी भी संस्कार-वपन में सहायक बनती हैं, किंतु आज दादी व नानी का स्थान 'टी.वी.' ने ले लिया है। इस टेलीविजन के आविष्कार से पूर्व सूर्यास्त के बाद ही रात होते-होते बच्चों का जमघट बूढ़ी दादी, नानी के पास हुआ करता था। वे मीठी-मीठी कहानियां सुनातीं, लोरियां गातीं, बच्चों के साथ संवाद करतीं और बातों ही बातों में उन्हें संस्कारों की ऐसी घुट्टी पिला देतीं जो जीवनपर्यंत उनके काम आती थी। लेकिन, अब टेलीविजन देखने की बढ़ती प्रवृत्ति से बच्चों में वैसे संस्कार लुप्त ही हो रहे हैं। टेलीविजन देखने का दूसरा बुरा असर शारीरिक, मानसिक और भावनात्मक स्वास्थ्य पर भी होता है, किंतु इसका सीधा असर बच्चों के मस्तिष्क पर भी होता है। अब तक हुए कई तरह के शोध कार्यों के निष्कर्षों से यही पता चलता है।

'सेंट्रल इंस्टीट्यूट ऑफ विहैवरल साइंसेस' की ओर से हुए अध्ययन में पाया गया कि टेलीविजन से निकलने वाली 'कैथोड' किरणें 13 वर्ष से कम उम्र के बच्चों के मस्तिष्क पर भी कभी न ठीक होने वाले दुष्प्रभाव छोड़ती हैं। इस संस्थान की ओर से चलाए गए एक कार्यक्रम के अध्ययन में पाया गया कि टेलीविजन के विकिरण से बच्चों के मस्तिष्क में घातक किस्म के रसायनों का उत्सर्जन होता है। इससे बाईं ओर का मस्तिष्क बिल्कुल निष्क्रिय हो जाता है, जबकि दाईं ओर का मस्तिष्क अधिक सक्रिय हो जाता है। इससे बच्चों में अस्थिरता बढ़ती है जिससे व्यक्तित्व विकास असंतुलित होता है। टेलीविजन से बच्चों में एकाग्रता की कमी और सहनशक्ति भी घट जाती है तथा कुंठा और 'डिप्रेशन' से ग्रस्त होने की आशंका बनी रहती है। इसके अलावा इससे बच्चों में स्मरणशक्ति, विश्लेषण तथा भावनाओं पर नियंत्रण रखने की क्षमता घट जाती है।

यह तो माता-पिता का ही दायित्व बनता है कि बच्चों में पनप रहे कुसंस्कारों की ओर वे ध्यान दें और उन्हें सही पथ पर लाने का प्रयत्न करें कि जिससे बालक का कोमल मस्तिष्क बुरे संस्कारों से प्रभावित न हो। उनमें अच्छे संस्कारों के बीज अंकुरित हों, ऐसे वातावरण का निर्माण माता-पिता ही कर सकते हैं। आचार्यश्री तुलसी के अनुसार बालकों के निर्माण में परिवार की अहम भूमिका रहती है। जिस परिवार में बच्चों के संस्कार-निर्माण की ओर ध्यान नहीं जाता, कालांतर में उस परिवार में सुख-समृद्धि एवं विकास के द्वार अवरुद्ध हो जाते हैं। यह स्पष्ट उद्घोषणा हो चुकी है कि जैसा परिवार होगा, बालक का व्यक्तित्व वैसा ही निर्मित हो सकेगा। ❖

भारतीय परंपरा कोरी वेदों से बनी हुई नहीं है। वेदमूलक अवश्य है पर कोरी वेदों से नहीं है। उस में आगम का, तंत्र परंपरा का भी बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। आगमों की परंपरा और निगम की परंपरा मिलकर एक पूरी की पूरी भारतीय परंपरा है। अपनी पूरी जटिलता और संपूर्णता के साथ। इस में कुछ बुनियादी बातें हैं और किसी-किसी में कहीं पर ज्यादा आग्रह है। प्रत्येक परंपरा में तीन दृष्टियां होती हैं। प्रथम उस की विश्व-दृष्टि क्या है, द्वितीय समाज-दृष्टि और इतिहास-दृष्टि क्या है और तीसरी उस की जीवन-दृष्टि क्या है? ये तीनों दृष्टियां अगर किसी परंपरा में हों तो वह संपूर्ण परंपरा कहलाती है। जैन दर्शन और बौद्ध दर्शन में जीवन-दृष्टि पर मुख्य जोर है। और वैदिक और तांत्रिक परंपराओं में विश्व-दृष्टि पर अधिक जोर है, सामाजिक दृष्टि पर केवल वैदिक परंपरा में जोर है। ऐतिहासिक और सामाजिक दृष्टि इसी में है, दूसरों में नहीं।

—डॉ. छगन मोहता

प्रत्येक देहधारी एक-दूसरे से सापेक्षता से आबद्ध है। अतः सहयोग की अपेक्षा को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। फिर भी सामाजिक दृष्टि से उसी सहयोग को उचित या काम्य माना जा सकता है जो विवेक और योग्यता के सूत्र से आबद्ध हो। जो सहयोग या उपकार आलसीपन, भ्रष्टाचार एवं दायित्वहीनता को प्रोत्साहन दे, वह औचित्य की सीमा में नहीं आ सकता। बिना विवेक दिए गए सहयोग को प्राप्त कर अयोग्य व्यक्ति समाज के लिए जोंक के समान परजीवी एवं भारभूत बन जाते हैं।

□ ———————— □□□

□ अन्येन सह आत्मनः योजनम्

□ साध्वी श्रुतयशा

मछली पानी में रहती है। पानी के अभाव में उसके जीवन की कल्पना ही नहीं की जा सकती। इसी तरह मनुष्य समाज के बीच में रहता है। समाज के अभाव में उसके व्यक्तित्व की भी कल्पना नहीं की जा सकती। समाज से अलग किया हुआ आदमी रामू भेड़िया हो सकता है, पर वह शिष्ट, सभ्य एवं सुसंस्कृत प्राणी हो सके—यह कदापि संभव नहीं। यदि कोई प्राणी समूह में रहता है, पर उस समूह में सामुदायिक चेतना का जागरण नहीं, परस्परता एवं सहयोग नहीं, तो वह समूह भीड़ ही कहलाएगा। उसे पशुओं का समाज तो कहा जा सकता है, किंतु मानव-समाज नहीं हो सकता।

पारस्परिकता एवं सहयोग की भावना को व्यापकता प्रदान करते हुए वाचक उमास्वाति ने लिखा—परस्परोपग्रहो जीवानाम्। जीव का लक्षण है—एक-दूसरे को सहारा देना, आलंबन देना, सहयोग प्रदान करना। आचार्यश्री तुलसी के शब्दों में—'सामाजिक व्यक्ति अकेला नहीं रहता। समाज का सहयोग लेकर ही वह अपनी जीवन यात्रा में सफल हो सकता है।'

सहयोग : क्या?

सहयोग शब्द सह और योग शब्द की सामासिक परिणति है। संस्कृत की युज् धातु से योग शब्द का जन्म हुआ, जिसका जैन पारिभाषिकी में अर्थ है—प्रवृत्ति। अर्थात् जो प्रवृत्ति (कार्य) व्यक्ति स्वयं कर रहा है, कर सकता है—उसमें साथ देना, सहायक बनना, उसे सुकर बनाना—सहयोग है। अपने श्रम से किसी अन्य के योग को सुकर बनाना सहयोग है—अन्येन सह आत्मनः योजनम्। मनुष्य की संवेदनशीलता एवं सामुदायिक चेतना जब कार्यरूप में परिणत होती है, तब सहयोग का जन्म होता है।

सहयोग : भेद-प्रभेद

विभिन्न दृष्टियों से विचार करने पर सहयोग के अनेक प्रकार सामने आते हैं। भूमिका-भेद से विचार करने पर सहयोग के पांच प्रकार हो सकते हैं—

□ **शारीरिक सहयोग**—दैनिक या जीवनोपयोगी कार्यों में हाथ बंटाना, मदद करना।

□ **वाचिक सहयोग**—सहानुभूतिपूर्ण शब्दों का प्रयोग।

□ **बौद्धिक सहयोग**—मंदबुद्धि सहपाठी आदि को पढ़ाना, समझाना।

□ **मानसिक सहयोग**—अवसाद, तनाव आदि की स्थिति से उबारने का प्रयत्न करना, बात सुनना, समाधान देना।

□ **आध्यात्मिक सहयोग**—चित्तसमाधि प्रदान करना, क्रोध, अहं, कपट आदि संवेगों से अस्थिर मानस को स्थिरता प्रदान करना आदि।

एक अन्य विवक्षा से पुनः सहयोग के दो प्रकार किए जा सकते हैं—

लौकिक सहयोग—समाज की भूमिका में प्रचलित आर्थिक, सामाजिक, चिकित्सा संबंधी एवं शिक्षा संबंधी सहयोग या सहकार लौकिक सहयोग है।

लोकोत्तर सहयोग—किसी व्यक्ति को संयम पथ पर आरूढ़ करने एवं उस पर सतत गतिमान बनने में अपेक्षित संबल प्रदान करना लोकोत्तर सहयोग है। ज्ञानदान, संयतिदान, अभयदान, चित्त समाधि आदि आध्यात्मिक उपकार, जो व्यक्ति को उपाधिमुक्त बनने में सहायक होते हैं, लोकोत्तर सहयोग हैं।

ज्ञातधर्मकथा में अनेक ऐसे सार्थवाहों का उल्लेख मिलता है जो अपने साथ यात्रा करने वाले सहयात्री बंधुओं को भोजन-वस्त्र आदि की अपेक्षित सुविधाएं प्रदान कर उनके देशाटन एवं अर्थार्जन में सहयोग देते तथा अनेक परिव्राजकों, भिक्षुओं एवं संन्यासियों को भी आहार एवं सुरक्षा की व्यवस्था से लोकोत्तर सहयोग प्रदान करते। थावच्चा-पुत्र की दीक्षा के समय लोकनायक श्रीकृष्ण ने भी उद्घोषणा करवाई कि यदि किसी को वैराग्य हो तो उसके तथा उसके पारिवारिक जनों के लिए उनकी तरफ से अनेक वार्तमानिक एवं भविष्य संबंधी सुविधाएं प्रदान की जाएंगी।

उपयोगिता की विवक्षा से पुनः सहयोग के दो भेद किए जा सकते हैं—

1. **आदेय सहयोग**—जो सहयोग व्यक्ति के विकास एवं ऊर्ध्वारोहण की भावना से किया जाए तथा उसकी पवित्रता एवं पुरुषार्थ को प्रदीप्त करने वाला हो।

2. **अनादेय सहयोग**—जो दूसरे को कमजोर, अकर्मण्य, पंगु एवं पुरुषार्थहीन बनाए अथवा ऐसा बनाने की भावना से दिया जाए, जो अस्थिर मानसिकता वाले व्यक्तियों को धक्का देकर गिराने जैसा काम करे—वह अनादेय सहयोग है। समाज-विरोधी एवं लोकमांगल्य की भावना को ठेस पहुंचाने वाले—हिंसा, आतंक, तोड़फोड़, आगजनी आदि में दिया जाने वाला सहयोग भी इसी श्रेणी में आता है।

सहयोग : क्यों?

व्यक्ति एक-दूसरे का सहयोग क्यों करें? सहयोग क्यों अपेक्षित है? इसके समाधान में अनेक बिंदु प्रस्तुत किए जा सकते हैं।

सामुदायिक कर्तव्य—समाज की एकसूत्रता का आधार है सहयोग एवं सापेक्षता। जो व्यक्ति दूसरे को सहयोग देना नहीं चाहता वह दूसरे से सहयोग की अपेक्षा भी कैसे कर सकता है? अतः प्रत्येक व्यक्ति का नैतिक दायित्व है कि वह परस्पर सहयोग करे। गणाधिपति श्री तुलसी के शब्दों में—'बिना सेवा और सहयोग की भावना, कोई भी आदमी समाज में सम्मानपूर्ण जीवन नहीं जी सकता।'

कार्य की सुसंपन्नता—अनेक व्यक्तियों का सहयोग कार्य की सुघड़ता एवं सुसंपन्नता में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। एक तार कभी भी पट बनने की अर्हता अर्जित नहीं कर सकता और न ही एक मोती मुक्ताहार बन कर गले में सुशोभित हो सकता है।

कार्यकौशल एवं विकास—एक कार्य के अनेक अंगों को विभक्त कर क्रमशः संपादित करने पर एक विशिष्ट कौशल की उत्पत्ति होती है, जो एक ही व्यक्ति के द्वारा अनेक कार्यों को करने से नहीं हो सकती। घड़ी, वस्त्र आदि विभिन्न वस्तुओं के निर्माण में भी आजकल इसी विधि का अधिकतम प्रयोग होता ही है। यदि एक ही व्यक्ति अपने लिए अन्न उत्पन्न करे, वस्त्र भी बनाए, बर्तन भी बनाए तो वह उनका सुसंपादन नहीं कर सकता और न समाज का विकास हो सकता।

प्रीति विवर्धन—समाज की एकसूत्रता के लिए उसके सदस्यों में प्रेम का विकास होना जरूरी है। प्रेम के विकास का आधार है सहयोग। कहा भी है—

सापेक्षत्व-विकासेन, सहयोगोभिवर्धते।
सहयोगस्य भावोऽस्ति, तत्र प्रीतिःपरा भवेत्॥

चित्त समाधि एवं शांत सहवास—जब, जिसे, जितनी अपेक्षा हो, वहां उसे, उतना सहयोग मिल जाए तो व्यक्ति का चित्त समाहित रहता है। उसे अकेलापन एवं असहायता की अनुभूति नहीं होती। समूह में जीने वाले प्रत्येक व्यक्ति की पारस्परिकता एवं चित्तसमाधि की फलश्रुति है—शांत सहवास। सहयोग के बिना शांत सहवास संभव नहीं।

दिव्यता का लक्षण—सहयोग दिव्यता है और असहयोग दानवीयता। कहा जाता है कि एक बार ब्रह्माजी ने देवों और दानवों को भोज दिया। भोजन के समय उनके हाथों में खपच्चियां बांध दी गई। दानवों में सहयोग का भाव नहीं था, अतः भूखा रहना पड़ा। देवों ने परस्पर सहयोग दिया, एक-दूसरे को भोजन करवा दिया। जहां सहयोग की भावना प्रखर होती है, वहां समस्या में से ही समाधान निकल आता है, वहां समस्या भी समाधान बन जाती है।

सहयोग : कब?

सहयोग देने के लिए काल की प्रतिबद्धता नहीं है। उसका नियामक तत्त्व है—अपेक्षा। जब, जिसे जरूरत हो

तब उसे दिया गया छोटा या कम महत्त्वपूर्ण सहयोग भी महान और बहुमूल्य हो जाता है। कहा जाता है कि डूबते को तिनके का सहारा। अपेक्षा इस बात की है कि तिनका प्रदान करने वाला ठीक उसी समय अपना सहयोग दे। समय पर प्राप्त हुआ स्वल्प सहयोग कभी-कभी व्यक्ति की जीवनधारा में इस प्रकार का मोड़ ला देता है कि वह आजीवन अपने-आप को उसका ऋणी मानने के लिए बाध्य हो जाता है।

सहयोग : कैसे?

प्रत्येक देहधारी एक-दूसरे से सापेक्षता से आबद्ध है। अतः सहयोग की अपेक्षा को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। फिर भी सामाजिक दृष्टि से उसी सहयोग को उचित या काम्य माना जा सकता है जो विवेक और योग्यता के सूत्र से आबद्ध हो। जो सहयोग या उपकार आलसीपन, भ्रष्टाचार एवं दायित्वहीनता को प्रोत्साहन दे, वह औचित्य की सीमा में नहीं आ सकता। बिना विवेक दिए गए सहयोग को प्राप्त कर अयोग्य व्यक्ति समाज के लिए जोंक के समान परजीवी एवं भारभूत बन जाते हैं। सहयोग की विधि का निदर्शन प्रदान करते हुए गणाधिपति श्री तुलसी लिखते हैं—

पंगुतां न नयत्येष, हस्तालम्बं सृजन्नपि।
गतिं सम्प्रेरयत्येव, गच्छेयुस्ते निजक्रमैः॥

जो सहयोग प्राप्त करने वाले व्यक्ति को आर्थिक, सामाजिक, बौद्धिक, मानसिक और भावनात्मक दृष्टि से सक्षम बनाए, उसके स्वाभिमान को ठेस न पहुंचाए और उसे सदा प्रगति पथ पर अग्रसर करता रहे—वैसा या उस विधि से सहयोग दिया जाए।

सहयोगी : कौन किसका?

प्राचीन साहित्य में एक घटना आती है। एक बार श्रीकृष्ण अर्हत अरिष्टनेमि की वंदना के लिए जाते हैं और मार्ग में एक वृद्ध की एक ईंट उठाकर सहायता करते हैं। उनके द्वारा एक ईंट उठाए जाने का परिणाम होता है—वृद्ध को पूरा ईंटों का ढेर उठाने के लिए पुनः नहीं आना पड़ा। जब श्रीकृष्ण एक वृद्ध का ईंट उठाकर सहयोग कर सकते हैं, तब हमारे लिए यह प्रश्न कहां अवशेष रह जाता है कि सहयोग किसका करें?

जो व्यक्ति सक्षम होकर भी श्रम, सेवा एवं सहयोग में अपने समय और शक्ति का नियोजन नहीं करता— उत्तराध्ययन सूत्र में वैसे व्यक्ति के लिए गली-गर्दभ की उपमा दी गई है। अतः साथ में रहने वाले हर व्यक्ति का हर व्यक्ति सहयोग कर सकता है। एक अग्रगामी साधु वस्त्र, पात्र, औषध आदि प्रदान कर, अध्यापन और वक्तृत्व-विकास आदि के द्वारा अपने सहगामियों अथवा अनुगामियों का सहयोग करता है, वहीं सहगामी संत भी गोचरी, सेवा आदि कार्यों में अग्रगामी के प्रति अनुकूलता का वर्तन कर उसका सहयोग करता है। इसी तरह एक धर्माचार्य सारणा, वारणा एवं समुचित व्यवस्था के द्वारा चतुर्विध धर्मसंघ का सहयोग एवं सेवा करते हैं। वहीं आचार्य के इंगित की आराधना कर, जब, जहां, जिस कार्य में वे नियुक्त करते हैं, उसके लिए सहर्ष प्रस्तुत होकर शिष्यवर्ग भी आचार्य का सहयोग करते हैं। विनय, समर्पण एवं बिना ननु-नच किए धर्माचार्य के परिवर्तन को प्राणाधिक माने, प्रवर और अवर ग्राम आदि में समभाव से विहार आदि करे—यह आचार्य के अनुशासन में सहयोग है। पंचसूत्रम् में इसी सहयोग का उल्लेख करते हुए कहा गया है—

यथावश्यकमाचार्यः साधून् साध्वीश्च योजयेत्।
साहाय्यं तत्र कुर्वीरन्नाचार्यस्य सुचेतसः॥
एतत् साहाय्यमार्याय, दातुमर्हन्ति साधवः
यथाग्रगामिनस्तद्वद् मुनयः सहगामिनः॥

तेरापंथ के आद्यप्रवर्तक भिक्षु स्वामी ने अपने जीवन के संध्याकाल में सहगामी साधुओं—खेतसीजी, भारमलजी आदि के सहयोग के प्रति आभार व्यक्त किया। युवाचार्य मघवा के सहयोग से ही चतुर्थ आचार्य जय प्रचुर साहित्य रचना कर सके। अपने युवाचार्य के सहयोग के प्रति प्रमोदभावना को अभिव्यक्ति देते हुए आचार्य तुलसी लिखते हैं—

महाप्रज्ञ-सा युवाचार्य सहयोगी है हर बात में।
छाया बनकर रहे साथ निशि वासर यातायात में॥

आचार्य महाप्रज्ञ भी अपने युवाचार्य के सहयोग का समय-समय पर उल्लेख करते ही रहते हैं—ये सारे उदाहरण आपसी सहयोग के कहे जा सकते हैं।

तेरापंथ धर्मसंघ में सहयोग की व्यवस्था

तेरापंथ धर्मसंघ एक आदर्श धर्मसंघ है। सेवा और सहयोग के विषय में यहां सभी एक-दूसरे के लिए सदा प्रस्तुत रहते हैं। तेरापंथ की जन्मघूटी है—

प्रस्तुता यत्र चैकार्थ, सर्वे सर्वार्थमैककः।
स्वयं संभागिता सात्म्यं, स संघः उच्यते॥

तेरापंथ धर्मसंघ में सहयोग की दृष्टि से दो व्यवस्थाएं मुख्यतः उल्लेखनीय हैं—1. संघाटक या साहाय्य व्यवस्था और 2. चित्तसमाधि की व्यवस्था। संघाटक (सिंघाड़ा) और साहाय्य (साझ) साधुओं में दो या तीन का समूह तथा साध्वियों में तीन, चार या पांच का समूह होता है। अपेक्षानुसार इनमें संख्यावृद्धि भी की जा सकती है। उस समूह में रहने वाले साधु-साध्वियों के कुछ वैयक्तिक कार्य होते हैं तो कुछ उनके सामूहिक कार्य भी होते हैं, यथा—गोचरी, पानी लाने की व्यवस्था, आहार के पश्चात् स्थान की सफाई (सीता निकालना), झोली, गलंना आदि की सफाई, पात्र सफाई, पात्र प्रतिलेखन आदि। प्राचीन काल में कुछ भिन्न प्रकार की व्यवस्थाएं होने के कारण गुरुकुलवास में रहने वाले साझों के लिए कुछ अन्य समुच्चय के कार्य—घड़ा, पानी का काम, चौकी, पुस्तक प्रतिलेखन आदि भी साझक्रम या दीक्षापर्यायक्रम से भी हो जाते हैं। इन सभी कार्यों में सिंघाड़े या साझ के व्यक्ति एक-दूसरे का यथायोग्य, यथा-अपेक्षा सहयोग करते हैं, सहयोग लेते हैं। इसके अतिरिक्त एक-दूसरे के शिक्षा, स्वास्थ्य, साधना एवं अन्य शारीरिक आवश्यकताओं में भी परस्पर सहयोग लिया जाता है। इसी प्रकार दो या तीन साध्वियों या संतों में परस्पर चित्तसमाधि की व्यवस्था की जाती है और उन्हें भी एक-दूसरे को यथायोग्य सहयोग देना होता है। सेवा और सहयोग के विषय में सहदृष्टि रखने वाला साधक गण की एकसूत्रता एवं प्रभावना का महानिमित्त होता है—

संघाटकं समं सर्वं, साहाय्यं च समं तथा।
पश्यतश्चक्षुवी यस्य, गणमेकं स पश्यति॥

सहयोग लेते समय ध्यान रखने योग्य कुछ बिंदु इस प्रकार हैं—

❑ सहयोग कम-से-कम लेने का प्रयत्न हो, अधिकतम देने का प्रयत्न हो अर्थात् सहयोग के आदान-प्रदान का अनुपात 50%-50% न हो, 30%-70% हो।

❑ सहयोग लेते समय अहासुहं और इच्छाकार समाचारी का प्रयोग हो, बाध्यता या प्रभाव का प्रयोग न हो।

❑ यदि किसी ने किंचित्मात्र भी सहयोग दिया है तो कृतज्ञता ज्ञापित करना न भूलें।

मिले स्वल्प भी यदि कभी, साधार्मिक सहकार।
बड़ी कृपा की आपने, बोले बचन उदार॥

❑ यदि समय पर कोई अपेक्षित सहयोग न कर सके या उसमें प्रमाद या विलंब करे, तब भी मनोवैज्ञानिक विधि से उसे गलती का एहसास करवाएं, शब्दों या भावों से ऐसी अभिव्यक्ति न दें कि उसकी सहयोग की भावना आहत हो।

❑ सहयोग देने वाले की शारीरिक, मानसिक अपेक्षाओं का ध्यान रखा जाए। उसके अन्य कर्तव्य भी हैं, उन्हें अनदेखा कर देने से उसके सामंजस्य एवं सहअस्तित्व में कमी आ सकती है।

❑ यदि परिस्थिति-विशेष के कारण अधिक सहयोग अपेक्षित हो तो एक या दो के साथ प्रतिबद्धता न रहे, औचित्यपूर्ण सहयोग कृतज्ञतापूर्वक अन्य व्यक्तियों से भी लेने की वृत्ति रहे।

सहयोग : आत्मचिंतन

❑ क्या मैं बिना मांगे दूसरों का सहयोग करती/करता हूं?

❑ क्या किसी से सहयोग लेने में संकोच/हीनता या ग्लानि की अनुभूति होती है या सहजता रहती है?

❑ अपेक्षित सहयोग न मिलने पर मेरा चिंतन विधेयात्मक रहता है या नहीं?

❑ किसी का सहयोग करके गिनाती/गिनाता हूं या उसे प्रसन्नता, निर्जरा और चित्तसमाधि का हेतु मानती/मानता हूं?

❑ क्या सहयोग के समय मेरे मन में छोटे-बड़े, सम्मान्य-अल्पमान्य जैसे भेदक मूल्य आते हैं? मेरा सहयोग कर गिनाने वाले के प्रति मेरे क्या भाव रहते हैं? सहयोग में विनिमय का भाव कितना रहता है? प्रतिदिन सुबह-शाम सहयोग और सापेक्षता के विषय में मेरा आत्मालोचन होता है या नहीं?

इस प्रकार उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि सहयोग का तात्पर्य ही पारस्परिकता है। इसकी व्यापकता के लिए यह जरूरी है कि हम उन सभी बातों को हृदयंगम करें जो इसके महत्त्व और परस्परता को अधिकाधिक दृढ़ता देने वाले हों। सामाजिक स्तर पर यह भावना तभी मजबूत हो सकेगी। ❖

यदि हमारा धर्म अहिंसा है तो हमारा यह दावा इस कसौटी पर खरा या खोटा साबित होगा कि समाज में हम एक हैं कि नहीं?

—जैनेंद्रकुमार

फिर शब्द द्रुत हो गए—फिर एक में मिल गए और जाने कब बंद हो गए—केवल ताल, देह से मुक्त हुई आत्मा-सी अपने को गुंजाती और ठहराती, घुमाती और उठाती रही। अकेली। वह और तेज हुई। शब्द एक बार फिर आ गए। इस बार कृष्ण और भी स्पष्ट था। उसे लगा कि सब शब्दों में केवल वही उसे सुन पड़ रहा है या कि वह मृदंग की थाप है, भाषा का शब्द नहीं। सुगंध अब नहीं थी, जब हवा चली तो उसका एक झोंका आया। उस ने सुगंध सुलगाने वाले को इस बार देख लिया। वह अपने काम में रस ले रहा था। इस आदमी से मुझे नफरत है, उसने फौरन तय कर लिया।

❑ ❑❑❑

❑ कीर्तन

❑ रघुवीर सहाय

जब उसे इस शहर में रहते हुए बारह साल हो गए तो एकाएक उसने देखा कि अब वह इतने अधिक लोगों से परिचित हो चुका है कि दो व्यक्तियों के मिलने से अगर कभी किसी खास तरह का रिश्ता उनसे बन सकता है तो वह अब उसके बस की बात नहीं रही। पर फिर उसने सोचा—क्या मैं खुद समझ भी रहा हूं कि मैंने क्या खोया है? वह रिश्ता, जिसको वह थोड़ी देर—उतनी ही देर जितनी तक उस में और उसके साथी में एक चमक कायम रहे, बनाना चाहता—अब कौन समझता है। लोग या तो हाथ जरा-सा उठाकर सलाम कर डालते हैं, जैसे सामने से आते हुए स्पर्श को अपने पर से झाड़े दे रहे हों या फिर एक निहायत निजी स्वार्थ में दूसरे को शामिल करके उससे गुंथ जाना चाहते हैं : अपने-अपने गोंद की खोज में एक-दूसरे के अंदर खंखोलते हुए दो आदमी। आखिर में दोनों मोटे होकर निढाल हो जायेंगे और तृप्त जोंक की तरह गिर पड़ेंगे।

कुछ ऐसा संयोग हुआ जैसा उसके साथ हमेशा होता था कि जब यह बात उसकी समझ में आई वह बड़ी देर से पैदल चल रहा था।

थकान हमेशा मुझे अकेला कर देती है और अकेलापन, थका हुआ, इस तरह के शहर में जिसमें मैं रहता हूं कितनी जरूरी चीज है : लंबी-लंबी दूरियां, उजड़े-उजड़े लोग और देर-देर में समझने वाले सरकारी नौकर—अच्छा हुआ मैं तेज सवारी पर नहीं हूं और वक्त को अपनी मेहनत से पूरा कर रहा हूं, उसने सोचा।

पसीने से उसका शरीर थोड़ा-सा नम हो गया था। इस हद तक देह का पसीजना कितना भला मालूम होता है। उसे जान पड़ा कि उस का शरीर एक सामान्य पशु है और अंदर से जो कुछ कर रहा है वह मांस की प्रक्रिया है। अपने पसीने की गंध उसे अभी नहीं आई थी—इतना श्लथ वह नहीं हुआ था—पर अंदर ही अंदर उसने उस गंध को पहचान लिया। तब उसे अपने तीखे नाक-नक्श वाला चेहरा दिखाई देने लगा।

जहां वह जा रहा था वहां एक सनकी डाक्टर रहता था। सारे शहर में एक वही आदमी था जिसे वह न ज्यादा जानता था, न कम। ठीक उतना जितना दो वयस्क आदमियों को, जिनकी अपनी अलग-अलग दुनिया हो, एक-दूसरे को जानना चाहिए। वह तरह-तरह के लक्षण याद करके घर से चलता और एक-एक का ऐसा वर्णन करता जैसे मानवदेह के व्यवहार के किसी गहरे रहस्य को खोल रहा हो। डाक्टर हालांकि सठिया गया था और कभी-कभी बाएं नथुने से सांस न आने की कैफियत देर तक सुनने के बाद यही समझता कि तकलीफ दाएं नथुने में है, तो भी वह उसे दुबारा समझाने में चिढ़ता नहीं। गलत लक्षण के आधार पर दवा चुन लेने से मनुष्य के प्रति जो भयंकर अपराध हो सकता है मानो उसको बचाने के लिए वह सारा हाल फिर कह सुनाता—इस बार भाषा को फालतू शब्दों से और अधिक बचाकर—और डाक्टर को दया से देखने का

ओछापन कभी न करता। डाक्टर सुंदर और बुड्ढा था, उसके अभी तक के जीवन की छोटी-छोटी बेईमानियां मिट चुकी थीं और उसका चेहरा एक नई उत्सुकता से भरा हुआ हर समय तैयार रहता था।

जब डाक्टर का घर नजदीक आने लगा तो उसकी थकान इतनी बढ़ चुकी थी कि वह अपने बच्चे से करीब-करीब बिलकुल जुदा हो गया और जिस हालत में उसे घर पर छोड़ आया था वह एक समझ में आ सकने वाली घटना जैसी जान पड़ने लगी। दरअसल बच्चा बहुत बीमार था। वह था भी एक कमजोर बच्चा। पर कमजोरों में भी वह उस प्रकार का था जो बहुत बीमार होने पर अंदर ही अंदर घुल जाते हैं और बाहर अन्त तक सुलझे हुए और जहीन दिखाई देते रहते हैं। इस वक्त मंटू किस तकलीफ में होगा—मैं ठीक-ठीक नहीं कह सकता। थोड़ी देर पहले की अपेक्षा अब मैं और भी कम जानता हूं। सहसा वह बच्चा उसकी नजर में एक भरा-पूरा इनसान, अपनी जान की जिम्मेदारी खुद उठाने वाला जीव बन गया। उसने मानो बड़े टाइप में छपे अक्षर पढ़ने की तरह डाक्टर के घर में पैर रखा।

वहां सुगंध भरी हुई थी। जोर से सांस खींचने की जरूरत न थी, वह वहां बस ठहरी हुई थी। तब उस ने हरकत महसूस की, कुछ आवाजें थीं। वे लय में थीं। वहां कीर्तन हो रहा था। बरामदे में सफेद चांदनी बिछी हुई थी। पैर नंगे कर वह उस पर बैठ गया। उसके एक ओर गेहुएं बदन की एक औरत बैठी थी जिसकी बगल के बाल छांटकर छोटे किए हुए थे और कलाइयां लाल चूड़ियों से भरी थीं। औरत के बाद और भी कई लोग थे, पहले भी। और वह जो जितना दिखा, उसको उतना देखता गया और जब पूरा दृश्य उसने देख लिया तो उसे मालूम हुआ कि चित्र बिलकुल सही है।

सिर्फ एक आदमी, जो नीली धारी की कमीज पहने था, उसे गलत मालूम हुआ। पर इतनी जल्दी वह आदमी उठकर घर के अंदर चला गया कि कोई हर्ज नहीं होने पाया।

एक खास तरह की गूंज उसे सुन पड़ रही थी जैसे कीर्तन अभी थमा-सा हो या शुरू हो रहा हो। दोनों में से कुछ था। उसने घुटनों के बल बैठ कर अपने चेहरे को कल्पना में देखने की कोशिश की। वही उसका मनचाहा चेहरा दिखा। फिर उसने एक-एक करके सबके चेहरे देखे जितने वे दिखाई पड़ रहे थे और जब वह देख चुका तो मृदंग पर थाप पड़ी।

मृदंग पर थाप पड़ रही थी। ऐसा लगा जैसे कि हर बार जो थाप पड़ती है किसी मतलब से पड़ती है। कोई चीज, जो शायद मृदंग की ही आवाज थी, अपने को जानबूझकर खोलने लगी। सुगंध लोबान की है, उसने समझा।

अभी वह चाहे तो थोड़ा-सा उठकर देख ले सकता है कि जहां से स्वर आ रहा है वहां क्या है। पर उससे कोई फायदा नहीं, उसने सोचा। यही वह समूह है जिस में मैं हूं और वह छंद भी इसी में है जिसने अभी अपनी शक्ल स्पष्ट की है। एक क्षण में स्पष्ट हो गया कि वह इसमें शामिल हो गया है। या तो न हुआ होता।

भीड़ में आगे थोड़ी-सी हलचल हुई। एक बहुत लंबा आदमी उठा और चुन्नटदार धोती समेटकर ठंडी चांदनी पर लोगों के बीच सावधानी से पैर रखता अंदर चला गया। उसके एक पांव में छह अंगुलियां थीं।

न, संगीत ने उसका साथ नहीं दिया। इस संगीत में उस हरकत के साथ चलने वाली कोई कथा न थी, उससे केवल छंद छंद छंद बनता चला जा रहा था।

कुछ शब्द भी उसके कान में पड़े। राम, कृष्ण। पर राम के नाम से उसकी कुछ समझ में न आया। कृष्ण कुछ अधिक समझ पड़ा। जिस तरह से वह मुखरित हो रहा था, संयुक्ताक्षर पर यति देकर, वही वह समझ पा रहा था।

फिर शब्द द्रुत हो गए—फिर एक में मिल गए और जाने कब बंद हो गए—केवल ताल, देह से मुक्त हुई आत्मा-सी अपने को गुंजाती और ठहराती, घुमाती और उठाती रही। अकेली। वह और तेज हुई। शब्द एक बार फिर आ गए। इस बार कृष्ण और भी स्पष्ट था। उसे लगा कि सब शब्दों में केवल वही उसे सुन पड़ रहा है या कि वह मृदंग की थाप है, भाषा का शब्द नहीं। सुगंध अब नहीं थी, जब हवा चली तो उसका एक झोंका आया। उस ने सुगंध सुलगाने वाले को इस बार देख लिया। वह अपने काम में रस ले रहा था। इस आदमी से मुझे नफरत है, उसने फौरन तय कर लिया।

छंद अब इस तरह बजने लगा था जैसे लट्टू सो गया हो। उस के पास बैठी गोरी औरत ने घुटनों पर कोहनियां रखकर बांहें सीधी कर ली थीं और एक हाथ से दूसरी कलाई थाम ली थी। जहां वह कलाई थामे थी वह उस के बैठे हुए आकार का केंद्र था और वहीं से उसकी पहलदार जांघों में तनाव आया हुआ था। उसके हाथ की अंगुलियां बूची-बूची थीं और एक पर बड़ा-सा भूरा मसा था, पर

अपने संपूर्ण प्यारभरे शरीर को लेकर वह इतनी शांत बैठी थी कि उसका मुंह देखना बिलकुल गैरजरूरी था। उस की गोरी पीठ पर हल्के-हल्के रोएं थे जैसे इस समय सारा अनुभव वह उन्हीं से कर रही हो। कटे बालों वाली बगल, जहां पर की खाल कुछ गहरे रंग की हो गई थी, मानो उसके बदन में अंदर देखने की खिड़की की तरह खुली हुई थी।

भीड़ में से एक आदमी उठकर नाचने लगा। वह अपनी देह से कुछ अभिव्यक्त नहीं करना चाह रहा था। सिर्फ उसे पकड़े रहना मुश्किल जानकर उसे छोड़े हुए था। मृदंग की थाप उसके चारों ओर से हो हो कर जाने लगी। लोबान सुलगाने वाले के पास बैठी औरत ने चीख मारी। किसी ने नहीं सुना।

यह एक मोटी काली औरत थी और लम्बी बांहों का चारखानेदार सलूका पहने थी। फिर ऐसा लगा कि वह भी उठकर नाचने लगी, पर ऐसा था नहीं। जो अपने बदन में उठते ज्वार को खर्च किए दे रहा था वही आदमी कमर से ऊपर के शरीर को भारी-भारी और मोटे-मोटे बल दे रहा था। लोबान। इसकी सुगंध ताजी लाश की याद दिलाती है, उसने सोचा, जिसके पास रखवाले बैठे हों।

अचानक उस ने डाक्टर को अंदर से आते देखा। वह छंद में शामिल नहीं था। घिरे आकाश के नीचे चौड़ी नदी के पार से जैसे डाक्टर ने उसे बुलाया। वह गया नहीं। डाक्टर तरह-तरह के आदमियों के समूह से बेतरह घिरा हुआ था।

इससे भी मुझे नफरत है। उसने एक मिरगिले नौजवान को देखकर कहा, यह चोर है। मुझे इनमें से एक-एक से नफरत है। यहां आने के बाद से नहीं, हमेशा से थी—किसी से अकारण, किसी से नहीं। पर हो भी तो कारण मैं बताने को बाध्य नहीं हूं : नहीं चाहता, नहीं चाहता, नहीं चाहता, मैं इन्हें नहीं चाहता, वह कह रहा था। पर कीर्तन का चौगुन छंद लय धीमी करने लगा। इसके विरुद्ध चलूंगा, जरा देर को उसने प्रण रखा। हार मानकर देखूं। नहीं, लय का धीमा करना मेरी आवश्यकता नहीं है। इन सब की मिल कर भी नहीं। सिर्फ उसकी है जो मुख्य स्वर में गा रहा है और उस से भी मुझे नफरत है।

उसका संघर्ष फिर से तेज हो गया। मैं एक-एक से नफरत करता हूं यानी कर सकता हूं। पर इस झुंड से नहीं, एकाएक उसने जाना। इस समय इन्हें मुझसे कोई मतलब नहीं। पर कोई चीज है जिसके कारण न मैं इनको त्याग रहा हूं, न ये मुझे अस्वीकार कर रहे हैं : भक्ति नहीं है वह, उसने झटके से यह विचार स्थापित कर दिया। छंद, शायद; पर बहुतकरके वह भी नहीं; भीड़, हां; पर नितांत वही नहीं।

मेरी देह शायद। औरत की देह भी। पसीने से नम, थकी, डूबी, खिंची मेरी और उसकी और इसकी, उनकी भी देह। शायद। स्वतंत्र एक-एक देह। मथी जाती हुई—जैसी जिसकी मांसमज्जा अंदर से है वैसी धड़कती हुई, बंद, सुरक्षित, पवित्र गोश्त की सत्ता, जो अपना मैल बालोंभरी त्वचा पर फेंकती रहती है।

इस वक्त कुछ भी हो सकता है, उसने कहा। और बिलकुल अपने-आप। अपने ही घटित होने के लिए कोई भी घटना इस समय घट सकती है। मेरा बच्चा मर जा सकता है या मैं मर जा सकता हूं। मरना ही एक ऐसी घटना है जो इस समय देह सबसे अच्छी तरह कर सकती है—अपनी सब से श्रेष्ठ हरकत—अपने अद्वितीय ढंग से।

डाक्टर फिर दिखा। इस बार उसने ऐसे सर हिलाया जैसे वह सहमत हो।

लोग उठ खड़े हुए, अपने-अपने वजन के हिसाब से हरकत करते हुए : कमर से नीचे के उनके कपड़ों पर अपनी सलवटें दिखाई दीं—हर एक की एक अलग लिखावट। एक ने जमुहाई ली और मृदंग शांत हो गया। अब उसने देखा कि एक चमकता हुआ पीतल का मंजीर भी वहीं रखा था और यही नहीं, अभी तक मृदंग के साथ बजता भी रहा था।

वह उठ खड़ा हुआ। उसने नंगी जमीन पर पैर रखने से पहले चप्पल पहनी और एक पांव पर बोझ डाल कर एक क्षण खड़ा हुआ। इसका कोई महत्त्व न था। यह उस की आदत थी, पर इस मौके पर जैसे उसने इस तरह अपने को तोड़ कर अलग कर लिया।

जिस वक्त वह घर पहुंचा, यह सब बात पुरानी हो चुकी थी। उस की बीवी ने दरवाजा खोला। वह सिर ढांके सीधा पल्ला किए और भी दोहरी लग रही थी। उस का मुंह वह देख नहीं पा रहा था। स्त्री ने कमरे में इशारा किया। उसका बच्चा बिलकुल सीधा शांत लेटा हुआ था। किसी ने उसे सिर से पैर तक सफेद कपड़े से ढंक दिया था, पर जाने कैसे उसके तलुवे खुले रह गए थे। ❖

नवीन सागर की कविताएं

•

वास्तव में अवास्तविक हूं

जहां से शुरू हुआ हूं,
वहां से पहले से है मेरी शुरुआत
जहां हुआ हूं खत्म
वहां से आगे चला गया है मेरा सिलसिला

जीवन के विभ्रम की धुंधली याद है
जीवन भूला हुआ अनुक्रम
दोहराता हूं
भीतर जाता हूं बाहर
मेरी परछाईं फैलती है
धरती से आसमान तक मेरा आभास है
या सृष्टि मेरा रहस्य खोजती है

भीतर
भटक जाता हूं तो मैं
तारों में छिटक जाता हूं

मैं
अवास्तविक हूं
वास्तव में अवास्तविक हूं।

•

मैं इतना अधिक क्यों!

अपनी परछाईं पर झुका हुआ हूं परछाईं-सा
उतना बाहर नहीं हूं
बाहर जितना अपने बाहर है
उतना खाली हूं बाहर जितना भीतर खाली है
जो-कुछ भी गया है खाली करके
बाहर के बाहर कहीं नहीं है
इस तरह एक निस्सीम सीमा के बाहर
सब-कुछ का कुछ होना एक सन्नाटा है
जिसमें डूब ध्वनि
अंधकार में फैलते हुए अंधकार का फैलाव है
उसी में फैलता हुआ मैं
अपनी परछाईं पर झुकी अपनी पीठ से टिका
घुटनों में सर दिए
समझ नहीं पा रहा हूं प्रयोजन

सारा अस्तित्व मेरे ऊपर झर रहा है
मुझमें भीतर अतल में विलीन होता हुआ
मैं एक पागल शून्य से बना हुआ खामोश
कोलाहल हूं
मेरे आस-पास और हर कहीं दूर
दुनिया जहान एक झूठी कहानी का दुहराव है

एक सपना टूटकर
नींद के तलहीन मैदान की समतल चारपाई के
अंधेरे पर विक्षत जीवन-सा बिखरा है
उसी में से बीनकर इच्छाएं
अपनी फटी जेबों में ठूंसकर जाना चाहता हूं
हर दिशा में
जाने की बंद हर दिशा का दरवाजा मैं हूं
हर दस्तक मैं हूं
अकेला मैं हूं अपने सिवा
यह मैं कौन हूं जो मैं नहीं हूं
यह किसकी याद है जो इस होने के पार
मेरे होने की तरह भूली हुई काल के निर्जन गड्ढे में
पड़ी है!

अपने बारे में इतना गड़बड़ा गया हूं
कि बहुत-सारे बेमानी शब्दों का जाल बुनती हुई मकड़ी
मैं हूं एक खंडहर के कोने में

दुनिया जहान की याद करता हूं
तो बार-बार मैं सहसा सामने आ जाता हूं
अपने से टकराकर चूर-चूर हो जाता कभी
तो कभी यह सब न होता प्रलाप!

मैं किसी तरह अपने बाहर और भीतर के अलावा
अपने होने का विचार करता हूं
और भूल जाता हूं बाहर-भीतर आने—
जाने में अपना विचार
क्यों जाने मैं इतना अधिक हूं अपने लिए
कि और अधिक मरने से डरता हूं। ❖

शीलन

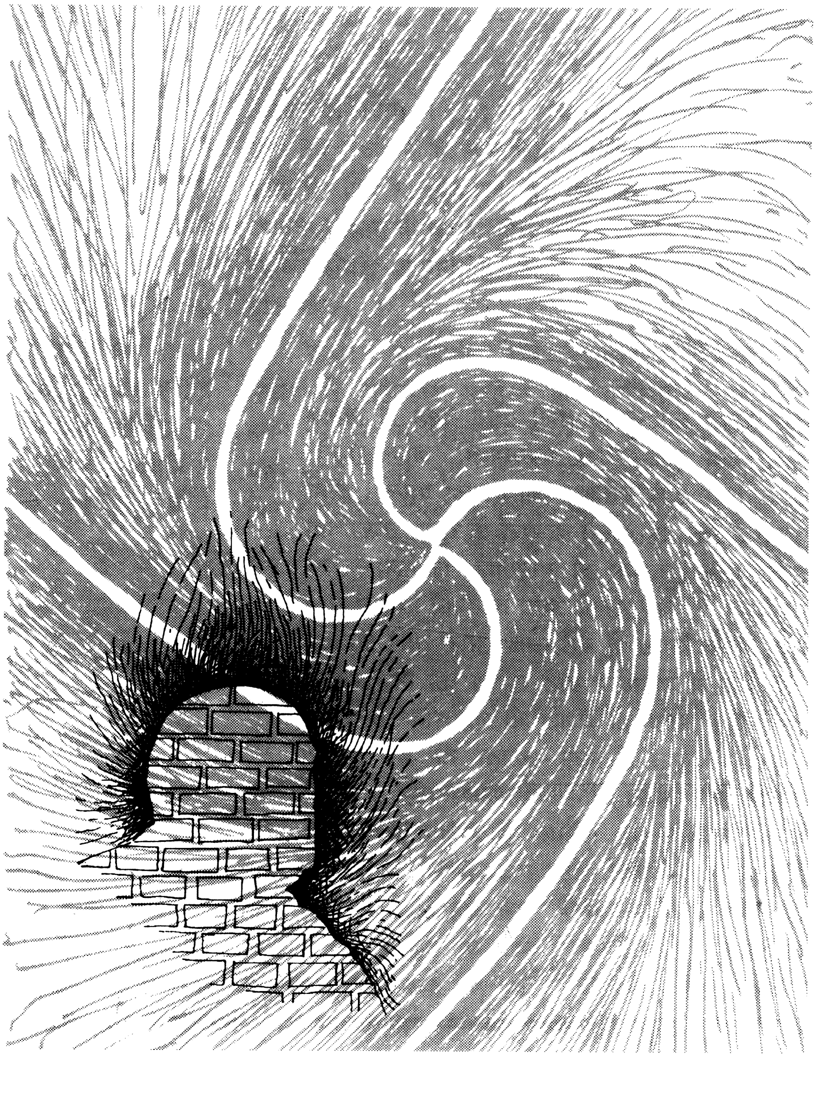

····इतने काल के सामाजिक विकास के बाद जो मौलिक मानवीय सत्य प्रतिष्ठित हो गए हैं, उन पर जोर देना, उन्हें समाज के पुनर्निर्माण में उचित स्थान दिलाने का प्रयत्न करना नितांत आवश्यक है। इनकी अवहेलना करके सभ्य और सुंदर सामाजिक जीवन नहीं चलाया जा सकता। श्रेणी नैतिकता के नाम पर सभी पुराने आदर्शों और सिद्धांतों का बहिष्कार उचित नहीं। समाज के दीर्घकालीन अनुभव तथा संचित ज्ञान का निरादर अनुचित होगा। इसके विपरीत पुराने आदर्शों और प्राचीन संस्कृति का अध्ययन आवश्यक है। हमारी नवीन संस्कृति के निर्माण में इनका बहुत बड़ा हाथ होगा।

—आचार्य नरेंद्रदेव

उम्र का असर कब किस रूप में शरीर पर उतरेगा, इसके लिए कोई समय-सीमा अंकित नहीं है। स्वस्थ जीवन-शैली के माध्यम से ही हम उम्र के असर से अप्रभावित रह सकते हैं। शरीर अपने-आप में ही क्षतिपूर्ति कर लेने वाली मशीन है। उम्र के असर को स्वीकार करने वाले वैज्ञानिक भी कहते हैं कि तीव्र गति से होते उम्र के असर का कोई जैविक कारण नहीं है। भीतर की जैविक घड़ी में पूर्व निर्धारित ऐसी कोई गति नहीं है जो कह सके कि कब तो आंखों की क्षमता को मंद होना है, या कब हृदयगति या ब्लडप्रेशर को तेज होना है। बाह्य कारणों की प्रतिक्रियास्वरूप कुछ अवयव अपनी क्षमता खोने लगते हैं, पर बहुत-सारे कारण तो व्यक्ति के भीतर ही विद्यमान होते हैं। तनाव एवं निषेधात्मक भावों की इसमें अहम भूमिका होती है।

❑ उम्र का असर : कब, किस रूप में

❑ समणी सत्यप्रज्ञा

समय, सूर्य और उम्र सदा आगे की ओर ही बढ़ते हैं, इन्हें पीछे की ओर लौटाया जाना संभव नहीं। व्यवहार में सूर्य की गति उदय और अस्त से जुड़ी है। समय की व्यावहारिक गति घड़ी की सुई व कैलंडर की तारीखों पर अपने पदचिह्न छोड़कर जाती है। उम्र के पांव क्षण-क्षण बचपन से बुढ़ापे की ओर बढ़ते हैं। एक नैसर्गिक नियम से जुड़े होने से सूर्य और समय की गति तो संतुलन के साथ एवं लयबद्ध ढंग से चलती रहती है, किंतु उम्र की लयबद्धता में व्यवधान देने वाले अनेक कारक तत्त्व बीच में आ जाते हैं, जो समय से पूर्व ही उम्र के पैरों को आगे की ओर धकेल देते हैं। व्यक्ति असमय ही उम्र से बड़ा नजर आने लगता है। इसके विपरीत कुछ कारक तत्त्व ऐसे भी हैं जो उम्र के पांवों को तो अपनी गति से आगे बढ़ने देते हैं, लेकिन उम्र के असर को बहुत पीछे छोड़ आते हैं। व्यक्ति जीना चाहता है और स्वास्थ्य के साथ दीर्घ-जीवन जीना चाहता है। वह जीवन में लंबी उम्र तो चाहता है, पर उम्र के असर को शरीर पर आने देना नहीं चाहता। यही चाहत व्यक्ति को अपनी जीवन-शैली पर ध्यान देने की जरूरत महसूस करवाती है।

उम्र की रफ्तार सदा समान नहीं होती। शरीर पर छूटते उम्र के सामान्य पदचिह्नों का अंकन तो दिन और दिनांक के साथ जोड़कर माप लिया जाता है, पर शरीर की कार्यशक्ति पर पड़ते उम्र के पदचिह्नों का मापन इस प्रक्रिया से संभव नहीं है। कार्यशक्ति पर उतरता उम्र का असर कभी तो सहम कर थम-सा जाता है, कभी स्तब्ध-सा खड़ा हो दूर से देखता रह जाता है, कभी मंद गति से चलता पौर-पौर में अपनी धीमी दस्तक देता जाता है और कभी तीव्र गति से भागकर व्यक्ति का सब-कुछ छीनता-सा आगे निकल जाता है। ऐसी स्थिति में व्यक्ति आठ की उम्र में ही साठ का-सा नजर आने लगता है। चिकित्सकों के अनुसार 'हचिंसन गिल्फोर्ड प्रोजेरिया सिंड्रोम' में बच्चे का शरीर तेजी से बुढ़ापे की ओर जाने लगता है। इस रोग से पीड़ित व्यक्ति के दांत गिरने शुरू हो जाते हैं, बदन झुर्रियों से भर जाता है और कद का बढ़ना रुक जाता है। ऐसे बच्चे ज्यादा-से-ज्यादा तेरह वर्ष जीते हैं। बुढ़ापे में होने वाली सभी बीमारियां बचपन में ही उन्हें घेर लेती हैं। यह रोग तो कदाचित् ही किसी को प्रभावित करता है, लेकिन तीव्र गति से भागते उम्र के पदचिह्न अनेक व्यक्तियों में देखे जा सकते हैं।

उम्र को प्रभावित करने में अस्त-व्यस्त जीवन-शैली, द्वंद्व, पूर्वाग्रह, नकारात्मक सोच, तीव्र आघात, प्रेरणा का अभाव आदि भाव-भूमियों की अपनी भूमिका रहती है। यह एक पक्ष है। शरीर का एक नैसर्गिक क्रम भी होता है जो प्रत्येक कोशिका को प्रभावित करता हुआ अभिव्यक्ति में

उतरता है। शरीरशास्त्रीय दृष्टि से एक चिंतन यह भी है—मौत अप्राकृतिक है। आयुविहीन शरीर का अभिमत आज वैज्ञानिकों को आकर्षित एवं उत्साहित कर रहा है। सिलीकॉन माइक्रोचिप्स से बनी बायोटिक रेटिना प्रकाश को विद्युत तरंगों में बदल देती है, जिससे अंधे लोग भी आंशिक दृष्टि को पा सकते हैं। शोधकर्ता इस दिशा में प्रयासरत हैं कि पुराने दांत की केंद्रीय कोशिका (stem cell) से जैविक 'टूथ फ्रेमिंग' संभव हो जाए।

प्रयोगशाला में ऐसी जींस का उत्पादन किए जाने की संभावना है, जिन्हें खराब हुई जींस की जगह स्थापित किया जा सके। ऐसी जींस दोषपूर्ण डी.एन.ए. को स्वतः समाप्त कर सकती हैं। 'स्पाइनलकोर्ड' में सफेद रक्त कोशिकाओं को इंजेक्टिड किए जाने से लकवाग्रस्त रोगी के शरीर में भी संवेदन और गतिशीलता संभावित है। टिटेनियम और प्लास्टिक से बना कृत्रिम हृदय किसी के भी हृदय के विकल्प रूप में इस्तेमाल किया जा सकेगा। 'ब्रेन पेसमेकर्स' (Brain Pacemakers) के माध्यम से मस्तिष्क से संबंधित रोगों की रोकथाम की जा सकेगी। जैव अभियांत्रिकों द्वारा मानव-त्वचा कोशिकाओं की प्रयोगशाला में वृद्धि की बात भी कही जा रही है, जिससे डायबिटीज के रोगियों को काफी राहत पहुंचाई जा सके। घुटने में स्वस्थ 'कार्टिलेज' का प्रत्यारोपण कर स्वस्थ कोशिकाओं की वृद्धि के साथ अस्वस्थ 'कार्टिलेज' को हटाया जा सकता है।

शोध और संभावनाएं कुछ भी कहें, अवस्था से जुड़े रोगों व लक्षणों का आंशिक उपचार किया जाना तो संभव है, लेकिन पूर्णतया निरस्त किया जाना सहज प्रक्रिया नहीं। 'एजलेस बॉडी' का घोष करने वाले कई वैज्ञानिकों की 'बॉडी' भी जमीन में छह हाथ नीचे जा चुकी होगी। अमर यहां कोई है ही नहीं।

आचारांगसूत्र में भगवान महावीर ने कहा—'अभिक्कंतं च खलु वयं संपेहाए' (2.1.5)। अवस्था जरा की ओर जा रही है, यह देखकर पुरुष चिंताग्रस्त हो जाता है। डॉ. कार्लसन का कथन है कि यद्यपि गणित से मानव की आयु एक सौ पचास वर्ष आती है, तथापि चिकित्सा विशेषज्ञों को मोटे तौर पर सौ वर्ष की आयु तो स्वीकार कर ही लेनी चाहिए।

मानव जीवन के इस काल में उसकी विभिन्न शक्तियां भी एक क्रम से क्षीण होती हैं। सबसे पहला लक्षण आंख पर प्रकट होता है। आंख के 'लेंस' में लचीलेपन की कमी दसवें वर्ष में ही प्रारंभ हो जाती है और साठ वर्ष की आयु तक पहुंचते-पहुंचते वह समाप्त प्रायः हो जाती है। आंख की शक्ति के क्षय के दूसरे लक्षण हैं—दृष्टि के प्रसार में कमी, किसी चीज का साफ-साफ नजर न आना तथा हल्के प्रकाश में दिखलाई न पड़ना। ये लक्षण चालीस वर्ष की उम्र में प्रारंभ होते हैं। इसी प्रकार मानव की दूसरी शक्तियां भी कम होती हैं। स्वाद की तेजी पचास वर्ष की उम्र से घटने लगती है और घ्राण-शक्ति साठ वर्ष की उम्र से घटने लगती है। श्रवण-शक्ति का क्षय तो बीस वर्ष की उम्र से ही प्रारंभ हो जाता है। बीस वर्ष की उम्र से ही पेट के पाचक रस कम होने लगते हैं और साठ वर्ष की अवस्था तक पहुंचते-पहुंचते उनका उत्पादन आधा हो जाता है। पचास वर्ष की उम्र में 'पेप्सिन' और 'ट्रिप्सिन' का उत्पादन बहुत ही घट जाता है। ये चीजें पाचन-शक्ति को ठीक रखने के लिए अत्यावश्यक हैं। वस्तुतः इन्हीं की कमी से हाजमे की तकलीफें उम्र के साथ बढ़ती हैं। मानव-मस्तिष्क की ग्रहण शक्ति बाईस वर्ष की उम्र में सबसे अधिक होती है और उसके बाद वह घटती है, पर अत्यंत अल्प गति से। चालीस वर्ष की उम्र के बाद घटने का क्रम कुछ बढ़ जाता है। अस्सी वर्ष की उम्र तक पहुंचने पर वह फिर उतनी रह जाती है जितनी कि बारह वर्ष की उम्र में थी (आचारांग, पृ. 91)।

उम्र के असर का संबंध मानव शरीर के ऊतकों से, 'डी.एन.ए.' की क्षति से जुड़ा है। हमारा शरीर 'कार्बोहाइड्रेट' जलाने के लिए 'ऑक्सीडेंट' का प्रयोग करता है और ऊर्जा पैदा करता है। लेकिन, इस 'ऑक्सीडेंट' प्रक्रिया से अणु नष्ट करने वाले 'फ्री रेडिकल्स' भी उत्पन्न होते हैं। 'फ्री रेडिकल्स' हमारी उम्र को प्रभावित करने वाले प्राकृतिक शत्रु हैं। ये हमारे शरीर के अणुओं, 'एंजाइम' और 'प्रोटीन' को नुकसान पहुंचाते हैं। ये 'डी.एन.ए.' को भी बदल देते हैं। इन्हीं की वजह से 'कोलेस्ट्रोल' धमनी की दीवारों पर ही लगा रह जाता है और यह सब प्राकृतिक रूप से होता है। कार्बोहाइड्रेट जलाकर हमारा शरीर ऊर्जा पैदा करता है। जलने का मतलब है आक्सीकरण और इसके उदाहरण हैं—जंग, बासी मक्खन, कटा हुआ अमरूद, सेव या केला जो हवा के संपर्क में आने से काले पड़ जाते हैं। जैसे ही हमारा शरीर कार्बोहाइड्रेट जलाता है, फ्री रेडिकल्स परिणाम के रूप में उत्पन्न होते हैं। अत्यधिक श्रम या व्यायाम, जो अन्यथा शरीर के लिए बहुत अच्छा है, वास्तव में तीव्र

गति से फ्री रेडिकल्स बनाता है। प्रदूषित वायु में सांस लेने, तंबाकू के धुएं से, शराब पीने और वसायुक्त भोजन खाने से फ्री रेडिकल्स शरीर में अधिक पहुंचते हैं। तनाव की स्थिति में भी फ्री रेडिकल्स अत्यधिक मात्रा में उत्पन्न होते हैं। फ्री रेडिकल्स से उम्र की प्रक्रिया पर आए प्रभाव को कम करने के लिए एंटीऑक्सीडेंट लेने का सुझाव दिया जाता है। ऑक्सीडेंट-रोधी देने के लिए इलेक्ट्रॉन होते हैं। ये स्थिरता के लिए आवश्यक लुप्त इलेक्ट्रॉन प्रदान कर फ्री रेडिकल्स को निष्प्रभावी करते हैं। इनकी सामयिक उपयोगिता हो भी सकती है, पर 'एंटी-एजिंग' से जुड़े इस तरह के किसी भी उत्पादन से उम्र की प्रक्रिया को धीमे किए जाने, रोके जाने या पीछे की ओर ले जाए जाने, लौटाए जाने का कोई वैज्ञानिक आधार नहीं है। उल्टे ऐसे उत्पादनों का प्रयोग किसी-न-किसी रूप में नुकसानदाई ही होगा।

कई तरह के हारमोंस, जो शारीरिक परिवर्तन के साथ अवस्था के प्रभाव से संबंध रखते हैं, जैसे—हारमोन, टेस्टेरोन, एस्ट्रोजेन, प्रोजेस्टेरॉन आदि। हारमोंस संपूर्ति के रूप में ली जाने वाली कुछ दवाएं स्वास्थ्य के लिए कभी उपयोगी हो सकती हैं, पर उम्र के असर को निरस्त कर सकना इनके वश में नहीं। यहां तक कि नवीनतम शोध के अनुसार पशुओं पर किए गए प्रयोगों ने बताया है कि हारमोन जीवन-काल को छोटा कर देता है। उम्र से जुड़े रोगों का प्रभावी उपचार 'मोलिक्यूलर जेनेटिक्स' (molecular genetics) द्वारा भी सोचा जा रहा है। लेकिन, स्वयं वे ही वैज्ञानिक स्वीकार करते हैं कि ऐसा कोई 'जीन' अभी तक सामने नहीं आया है जो बढ़ती उम्र के लिए सीधे तौर पर उत्तरदाई है। बढ़ती उम्र की क्रिया आनुवंशिकी से निर्धारित नहीं है (There are no genes directly responsible for the processes of aging. The processes of aging are not genetically programmed.), पर्यावरण, परिस्थिति व मनःस्थिति ही इसे प्रभावित करने वाले प्रमुख कारक हैं। जीन के लिए कोई भी उम्र अपवाद नहीं कि वह किसे प्रभावित करे या किसे प्रभावित न करे। कई 'टीन-एजर्स' भी अवस्था से बहुत पहले प्रौढ़ता में पहुंचे देखे जा सकते हैं।

पाचन क्षमता के कम हो जाने की समस्या केवल वृद्ध लोगों की समस्या नहीं है। यद्यपि अवस्था प्राप्त घर की तरह ही अवस्था प्राप्त शरीर को भी अधिक संभाल व रख-रखाव की जरूरत होती है। पेट स्वयं यदि पाचक रसों का स्राव नहीं करता है तो चिकित्सक 'पेप्सिन' के साथ या ऐसे ही 'हाइड्रोक्लोरिक एसिड' के माध्यम से उसकी संपूर्ति का सुझाव देते हैं। यद्यपि किन्हीं भी दो व्यक्तियों में उस अपर्याप्तता का रवैया समान नहीं होता। यहां तक कि अवस्था से प्रभावित दस लोग भी यदि इस समस्या से पीड़ित हैं तो शेष बहुत बड़ी संख्या में ऐसे लोग हैं जिनकी कोशिकाएं पर्याप्त पोषक रस पैदा करने में समर्थ नहीं हैं और निश्चित रूप से ऐसे लोग उम्र से पहले ही उम्र के असर में जा रहे हैं। अवस्था से पूर्व उम्र, हृदयाघात और अपाचन की स्थिति में लोग सामान्यतया एसिडिटी को कारण मान एंटासिड्स (antacids) या एसिड ब्लोकर्स (acid blokers) ले लेते हैं। जैसे सिरदर्द होने पर व्यक्ति 'एस्पिरिन' लेता है। इसका मतलब यह नहीं कि दर्द का कारण एस्पिरिन की कमी हो। ठीक वैसे ही हार्ट-बर्न या अपच की स्थिति में एंटी-एसिड लेने से आराम मिलता है, इसका कारण यह नहीं है कि एसिड पहले ज्यादा था। वस्तुतः शोध के बाद पाया गया कि प्रायः उनमें हाइड्रोक्लोरिक एसिड, एसिटिक एसिड व ब्यूटाइरिक एसिड (Hydrochloric Acid, Acetic Acid & Butyric Acid) की अविद्यमानता या कमी है। इस कमी के कारण होने वाले दर्द को तो एसिड-रोधी दवाएं शांत कर देती हैं, किंतु पहले से ही एसिड की कमी और फिर एसिड-रोधी दवाओं का प्रयोग पाचन-क्षमता को और अधिक कमजोर बनाता है। इसके प्रभाव से पाचन तंत्र, कोशिका, ऊतक और अन्य कोई भी अवयव अपने-आप स्वस्थ होने की क्षमता खो देता है। दूसरे शब्दों में कहें तो जितना ही ज्यादा ये दवाएं यथा—जिनटेक (Zinetac), पेपसिड, टेगानेट (Pepcid, Taganet) और यहां तक कि ट्यूनिस (Tunis) या रोलिसिड्स (Rolcids) लेंगे उतना ही अधिक उम्र के असर को तीव्रगामी बना देंगी। इसीलिए सही कारण की खोज के साथ उपचार बेहतर परिणाम दे सकेगा।

उम्र का असर त्वचा पर बहुत जल्दी दिखाई देने लगता है। लचीलेपन की कमी, झुर्रियां, रूखापन इसके प्रमुख लक्षण हैं। सूर्य-किरणों, धूल-धुएं आदि कारणों एवं तनाव से होने वाली त्वचागत क्षति को दूर कर पाना, चमक एवं लचीलेपन को पुनः लौटा पाना मुश्किल है। बालों की चमक का खो जाना, बालों का गिरना या भूरा अथवा सफेद हो जाना उम्र का दिखाई देने वाला प्रभाव है।

उम्र का असर कब किस रूप में शरीर पर उतरेगा, इसके लिए कोई समय-सीमा अंकित नहीं है। स्वस्थ

जीवन-शैली के माध्यम से ही हम उम्र के असर से अप्रभावित रह सकते हैं। शरीर अपने-आप में ही क्षतिपूर्ति कर लेने वाली मशीन है। उम्र के असर को स्वीकार करने वाले वैज्ञानिक भी कहते हैं कि तीव्र गति से होते उम्र के असर का कोई जैविक कारण नहीं है। भीतर की जैविक घड़ी में पूर्व निर्धारित ऐसी कोई गति नहीं है जो कह सके कि कब तो आंखों की क्षमता को मंद होना है, या कब हृदयगति या ब्लडप्रेशर को तेज होना है। बाह्य कारणों की प्रतिक्रियास्वरूप कुछ अवयव अपनी क्षमता खोने लगते हैं, पर बहुत-सारे कारण तो व्यक्ति के भीतर ही विद्यमान होते हैं। तनाव एवं निषेधात्मक भावों की इसमें अहम भूमिका होती है।

उम्र के चक्र को कितना ही पीछे की ओर घुमाने की कोशिश करें, आगे की जीवन-यात्रा में व्यक्ति को कभी तो जाना ही है।

अवस्था के तीन पड़ाव—प्रथम, मध्यम और पश्चिम प्रायः सबके साथ जुड़ी हुई सचाई है। प्रथम अवस्था मध्यम की ओर दौड़ती है और मध्यम अवस्था पश्चिम की ओर। सामान्यतया मध्यम अवस्था में इंद्रियों की शक्ति क्षीण होने लगती है, लेकिन जो लोग परिस्थिति से अप्रभावित रहना जानते हैं, सकारात्मक ऊर्जा का भंडार उनके लिए हर समय तैयार है। हार या जीत तो हर व्यक्ति के जीवन में आ सकती है, लेकिन वास्तविक विजय का मतलब होता है—हार से न डरना। हार कर के भी जो खुश रह सकता है, विजय उससे दूर कहीं जा नहीं सकती। जिनका मन सदा जीतने के लिए ही बना है, उन जीतने वालों के लिए हार प्रेरणादायक बन जाती है। मन से हारने वालों को हार बर्बाद करती है। कोई भी असफलता अंतिम नहीं होती। हर संकट को अवसर में बदलने की कोशिश सफलता को बहुत नजदीक कर देती है।

हमारे लक्ष्य, प्रवृत्ति और चिंतन से जुड़ा हर आयाम हमें प्रभावित करता है। जैन दर्शन का एक महत्त्वपूर्ण प्रसंग ज्ञातधर्मकथा में आता है—थावच्चा-पुत्र ने जब जाना कि बुढ़ापा और मृत्यु हर एक जीवन के साथ जुड़ी हुई सचाई है, इसे टाला नहीं जा सकता। बुढ़ापे और मृत्यु के स्वरूप से वह बहुत भयभीत हो जाता है और अपनी माता से कहता है—मुझे किसी ऐसे महावैद्य के पास ले चलो जो मुझे बुढ़ापे और मृत्यु—इन दो महारोगों से उबार सके, बचा सके। माता कहती है—'बेटा! इस दुनिया में ऐसी कोई दवा या वैद्य नहीं है जो इन रोगों से बचा सके। हां, अर्हत् अरिष्टनेमि की शरण ही महामोह के आतंक रूप बुढ़ापे और मृत्यु से उबारने में समर्थ है।' अर्थात् बुढ़ापा महामोह से होने वाला आतंक है, रोग है। मोह या विषय-आसक्ति की तीव्रता बुढ़ापे की रफ्तार को भी तीव्र बना देती है। गुरुदेव श्री तुलसी ने 'अध्यात्म पदावली' में लिखा—

विषय विचिंतन में सहज, बढ़ती है आसक्ति।
उससे अंकुर काम का, ततः क्रोध अभिव्यक्ति॥

फलती उससे मूढता, होता स्मृति का ह्रास।
बुद्धि विपर्यय अंततः जीवन का व्यपनाश॥

इंद्रिय-विषयासक्ति, राग-भाव की तीव्रता शक्तिक्षय का कारण बनती है। फलतः व्यक्ति बुढ़ापे की ओर धकेला जाता है। अर्हत् शरण का तात्पर्य है—इंद्रिय-जय की साधना, वासना-विजय की साधना, अनासक्ति की साधना और वीतरागता की साधना। यह साधना जितनी-जितनी पुष्ट होती चली जाती है, व्यक्ति शक्ति-संपन्न बनता जाता है। उम्र का कोई अवरोध उसके रास्ते में नहीं होता। जैसे उम्र जीवन के साथ कुछ जोड़ती चली जाती है, जीवन भी उम्र के साथ कुछ जोड़ता चलता है और उपलब्धियों के शिखर पर कभी भीड़ नहीं होती।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के अनुसार श्वास एक ऐसा माध्यम है जो भीतर भी जाता है, बाहर भी आता है। जिसके श्वास का सेतु संतुलन, समता, सहिष्णुता और 'सेंस ऑफ ह्यूमर' से निर्मित है, उम्र का असर उससे बहुत दूर ही ठिठक-सा जाता है। आनंद के साथ जीने वाला उम्र के नवें दशक में भी कई साठ वालों को चोटी पर चढ़ा नजर आता है। शरीर खुद उनसे उनकी उम्र छुपा लेता है। लेकिन, ऐसी धीमी गति से उम्र की छाप लेते लोग बहुत कम हैं। क्या आप उनमें से एक हो सकते हैं? ❖

संदर्भ

1. The Premature Aging Questiont
2. Theory of Aging—www.chem-tox.com/DNA/Aging
3. Position Statement on Human Aging by-S. Jay Olshansky, Leonard Hayflick, Bruce A. Carnes
4. The Ageless Body—by J. Alex Tarquinio
5. ज्ञातधर्मकथा
6. अध्यात्म पदावली

❖❖

भगवान महावीर ने समस्या के मूल को पकड़ा और संभवतः इसलिए घर छोड़ने से पूर्व परिग्रह परित्याग का संकल्प जगाने का निर्देश दिया। राग, लोभ, अधिकार की भावना—ये सब परिग्रह के पर्याय हैं। शेष सारे निषेधात्मक भाव इसी परिग्रह पादप की कंटीली छाया में पलते हैं।

जब तक व्यक्ति इंद्रियों के अधीन रहता है, मन का अनुचर बन जाता है, तब तक उसका घर के प्रति आकर्षण बना रहता है। कषाय से अनुरंजित रहता है, ज्यों ही वह इंद्रिय और मन का निग्रह कर लेता है, उसका मालिक बन जाता है तब उसके आकर्षण की दिशा बदल जाती है।

तब उसे कंटीली छाया में आनंद नहीं आता, घर अच्छा नहीं लगता।

साधना के लिए गृह-त्याग : एक विवेचन

साध्वी सिद्धप्रज्ञा

साधना वह है जो लक्ष्य तक पहुंचाती है, साध्यसिद्धि को उपलब्ध कराती है। जहां सारी साधें—इच्छाएं, कामनाएं संतृप्त हो जाती हैं, साधना वहां समाप्त हो जाती है, वहां साधना कृतकृत्य हो जाती है। सिद्धि-संप्राप्ति के लिए (आत्मशुद्धि के लिए) जरूरी है—साधना। सत्य-अहिंसा की साधना, मैत्री-मुदिता-मध्यस्थता की साधना, ब्रह्मचर्य-अपरिग्रह-अनेकांत की साधना—यही साधना निष्पत्तिकाल में साध्य बन जाती है। इस साधनाभूमि पर आरोहण करने के लिए आवश्यक है शरीर को साधना, वचन और मन को साधना। यह साधना घर में भी की जा सकती है और घर त्याग कर भी।

साधना गृहवास या गृहत्याग से अनुबंधित नहीं है। उसका अनुबंध आत्मा से है, वैराग्य और अभ्यास से है। भगवान महावीर का अनुभूत स्वर है कि साधना गांव में भी हो सकती है, जंगल में भी हो सकती है। उत्तराध्ययन सूत्र में प्रतिपादित यह तथ्य व्रतों की अनिवार्यता पर प्रकाश डाल रहा है—

'कुछ भिक्षुओं से भी गृहस्थों का संयम प्रधान होता है। चीवर, जटाधारण, नग्नत्व और सिर मुंडवाना—ये सब दुष्टशील वाले साधु की रक्षा नहीं करते। दुःशील भिक्षाजीवी भी नरक से नहीं छूटता। भिक्षु हो या गृहस्थ, यदि वह सुव्रती है तो ही स्वर्ग में जा सकता है। व्रतों के आसेवन की शिक्षा से संपन्न सुव्रती मनुष्य गृहवास में रहता हुआ भी देवलोक में चला जाता है।' (संदर्भ : उत्तरा. 5/20-24)

ब्राह्मण परंपरा में संन्यास की अपेक्षा गृहस्थी को श्रेष्ठ बताया गया है। महाभारत का अभ्युपगम यह है कि जैसे सब जीव माता का सहारा लेकर जीते हैं, वैसे ही सब आश्रम गृहस्थ का सहारा लेकर जीवनयापन करते हैं। मनुस्मृति में गृहस्थाश्रम को वायु की भांति सब आश्रमों का आधार माना है।

ठाणं सूत्र में भी साधु के पांच निश्रास्थानों में एक निश्रास्थान है—गृहपति। आगमों में सिद्धों के पंद्रह भेदों में एक भेद है—गृहलिंग सिद्ध। इस कालखंड में मरुदेवा इसका प्रथम उदाहरण है। इस संदर्भ के आधार पर एक संभावना की जा सकती है कि साधना के लिए घर छोड़ना जरूरी नहीं है। गृहस्थ को भी धर्म करने का अधिकार है। भगवान महावीर ने दो प्रकार के धर्मों का प्रतिपादन किया था—अगार धर्म और अनगार धर्म। किंतु, उन्होंने यह भी कहा था—'गारत्थेहिं य सव्वेहिं साहवो संजमुत्तरा।' साधुओं का संयम सब गृहस्थों से प्रधान होता है।

यहां ज्ञातव्य तथ्य यह है कि अगारधर्मी की गति केवल देवलोक है, जबकि अनगार देवलोक या मोक्ष दोनों में से कहीं भी जा सकता है। ब्राह्मण के रूप में उपस्थित

देवेंद्र ने नमि से कहा था—'राजर्षिवर! तुम घोराश्रम को छोड़कर संन्यास की इच्छा करते हो, यह उचित नहीं है।' नमिराजर्षि बोले—'देवेंद्र! धर्मार्थी के लिए घोर अनुष्ठेय नहीं है। उसके लिए एकमात्र अनुष्ठेय है—स्वाख्यात (चारित्रधर्म) धर्म। घोर होने मात्र से कोई वस्तु श्रेष्ठ नहीं होती। कोई बाल (गृहस्थ) मास-मास की तपस्या के अनंतर कुश की नोक पर टिके उतना-सा आहार करे, तो भी वह चारित्र धर्म की सोलहवीं कला को भी प्राप्त नहीं होता। जो मनुष्य प्रतिमास दस लाख गायों का दान देता है, उसके लिए भी संयम ही श्रेय है, भले फिर वह कुछ भी न दे।'

जो अपने-आप को सत्य की खोज में पूर्णतः समर्पित करना चाहते हैं, जिनमें आत्म-स्वातंत्र्य की समुपलब्धि की गहरी प्यास है और जो दूसरों को भी स्वतंत्रता का देय देना चाहते हैं, उन्हें अवश्य ही अनगारता में उपस्थित होना होता है। जो अनगारता ही अर्हता-क्षमता से संपन्न नहीं हैं, किंतु धर्माचरण के लिए समुत्सक हैं—उनके लिए अगारधर्म श्रेयस्कर है। जैसा कि गणाधिपति गुरुदेव श्री तुलसी ने लिखा है—

जो हो संभव अनगार धर्म का पालन,
तो करें उसी पथ में अपना संचालन।
क्षमता यदि अल्प, अनल्प धर्म में आस्था,
साभार अगार धर्म का पकड़े रास्ता।

अगार शब्द घर का वाचक है। अग का अर्थ है—वृक्ष। प्राचीन काल में वृक्ष के काठ (लकड़ी) से घर बनाए जाते थे, इसलिए उन्हें अगार कहा गया। गृहस्थ जीवन की प्रथम अपेक्षा है—घर। घर वह है, जहां दिखते हैं जमीन पर घुटनों के बल सरकते-चलते-अठखेलियां करते शिशु, किलकारियां करता बचपन, हंसते-खिलते-मुस्कराते चेहरे, खुशमिजाज दिल-दिमाग, वात्सल्यरस से झरती आंखें, आदरसूचक मधुर शब्दों का प्रयोग, आत्मीय व्यवहार, सुरुचिपूर्ण सुव्यवस्थित वस्तुएं, सुरक्षा, सहयोग और स्नेह की सौरभ से सज्जित वातावरण। सौंदर्य से सजल बने मोहक घर को छोड़ने का सपना देखना भी कठिन है, गृहत्याग का संकल्प जागेगा भी कैसे? क्यों देखें ऐसा सपना? क्यों जगाएं ऐसा संकल्प? क्या जरूरत है घर छोड़ने की?

मुद्दे की बात इतनी-सी है कि हम भले ही घर में रहें, घर हमारे में न रहे। किंतु, यह संभव नहीं लगता। कितनी समस्याओं से संक्रांत-आक्रांत है—घर का जीवन। उपाध्याय विनयविजयजी ने शांत-सुधारस काव्य में इसका सुंदर चित्रण किया है—

प्रथम मशनपान-प्राप्ति वांछाविहस्ता,
स्तदनुवसन वेश्मालंकृति व्यग्रचित्ताः।
परिणयनमपत्याऽवाप्तिमिष्टेन्द्रियार्थान्,
सततमभिलषन्तः स्वस्थतां क्वाश्नुवीरन्॥

पहली समस्या है—अन्न-जल प्राप्ति के लिए व्याकुलता।

दूसरी समस्या है—वस्त्र, निलय और अलंकार की प्राप्ति हेतु व्यग्रचित्तता।

तीसरी समस्या है—विवाह, संतान, इष्टविषय की प्राप्ति की सतत अभिलाषा।

प्रज्ञापुरुष जयाचार्य ने चौबीसी में अर्हत् अभिनंदन की स्तुति में लिखा है—

तीर्थंकर हो चोथा जग भाण, छांडी गृहवास करी मति निरमली।
विषय विटंबण हो तजिया विषफल जाण...।

जैसे शरद् पूर्णिमा की रात्रि में निरभ्र आकाश में चंद्रमा अत्यंत निर्मल-प्रसन्न दिखाई देता है, वैसे ही मुमुक्षा जागने पर, गृहवास का बादल छंट जाने पर चिदाकाश में बुद्धि की निर्मलता-प्रसन्नता-स्वच्छता चमक उठती है। बुद्धि की पारदर्शिता में इंद्रिय-विषय विषफल सदृश दिखने लगते हैं। कौन मुमुक्षु उन फलों से अपना जीवन चलाने की नासमझी कर सकता है। सामान्य मुमुक्षु की तो बात ही क्या, बड़े-बड़े राजे, महाराजे, चक्रवर्ती और तीर्थंकर भी घर छोड़कर प्रव्रजित हो गए, आत्मविहार के लिए पादविहारी बन गए।

जिसकी अनासक्ति की चेतना जाग गई। वह घर में रह नहीं सकता। बंधनमुक्ति की प्यास उसे घर छोड़ने को विवश कर देती है। कितनी ही धमकियां दी जाएं, कितने ही कष्ट दिए जाएं, कितने ही प्रलोभन दिए जाएं—अनुकूल-प्रतिकूल सब-प्रकार की विषम स्थितियों को साहस से पार कर वह एक दिन घर छोड़ ही देता है। तेरापंथ का इतिहास इसका साक्षी है। आचार्य भिक्षु की बुआ ने धमकी दी थी कि तुम दीक्षा लोगे तो मैं पेट में कटार खाकर मर जाऊंगी।

महासती सरदारांजी को घर में रहते हुए भी अन्य घरों से मांगकर खाना पड़ा, निर्जल तप करना पड़ा।

चुल्ल-पिता सुपार्श्व और ज्येष्ठ भ्राता नंदिवर्धन ने बहुत ही मधुर-करुण-कातर स्वरों में महावीर की मीठी

मनुहारें कीं, राज्य को सुव्यवस्थित करने का दायित्व और अधिकार सौंपना चाहा, पर महावीर का चेतनादीप पदार्थ-परवशता और परतंत्रता के आवरण से मुक्त हो चुका था। उन्हें अभीष्ट था—स्वतंत्रता का वरण और धर्मचक्र का प्रवर्तन। कोई भी व्यक्ति घर की सीमा में बैठकर धर्मचक्र का प्रवर्तन नहीं कर सकता। गणाधिपति गुरुदेव श्री तुलसी ने लिखा है—

इस युग के अंतिम तीर्थंकर वर्धमानश्री जिन देवार्य।
किया प्रवर्तन धर्मचक्र का, जिसका होना था अनिवार्य।।

श्रमण महावीर ने चार तीर्थ की स्थापना करते हुए कहा—व्यक्ति अपनी शक्ति, पराक्रम और श्रद्धा को जानकर आत्मा का नियोजन करे। जिसे ऐसा अनुभव हो कि मुझमें साधना की पूर्ण क्षमता है तो वह अनगार बन जाए। अनगार धर्म के पालन में कठिनाई हो तो वह अगार धर्म—श्रावकत्व स्वीकार करे। श्रावक की नित्यप्रति भावना यही रहे कि मैं कब अनगार बनूंगा।

ठाणं सूत्र (3/497) में श्रावक के तीन मनोरथ प्रतिपादित हैं। उनमें पहला मनोरथ है—कब मैं अल्प या बहुमूल्य परिग्रह का प्रत्याख्यान करूंगा? दूसरा मनोरथ है—कब मैं मुंडित होकर अगार से अनगारत्व में प्रव्रजित होऊंगा? एक गृहस्थ श्रावक के लिए यह अपेक्षित है कि वह अपना लक्ष्य निर्धारित कर संकल्पशक्ति को संपुष्ट बनाए। उसे नित्य इस भाषा में अनुप्रेक्षा करनी चाहिए कि—

कब आएगा वह धन्य दिवस, घर त्याग मुनिव्रत लूंगा मैं।
(संदर्भ : श्रावक संबोध 1/56)

अर्हतों ने आठ वर्ष से कुछ ही अधिक आयु के बालक को भी अनगार बनने का अधिकार दिया है। न केवल अनगार, अपितु वह उत्कृष्ट आराधना से केवली भी बन सकता है। जो घर छोड़ देता है, वह अनगार बन जाता है, उसकी अधिकार की मनोवृत्ति समाप्त हो जाती है। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक फ्रॉयड ने कामवृत्ति (सैक्स) को मौलिक वृत्ति माना था। किंतु, वर्तमान में यह अवधारणा बदल गई है। आज मूल वृत्ति सैक्स नहीं है। मूल वृत्ति है अधिकार की भावना। वैज्ञानिकों ने प्रयोग किया—एक ऐसा कृत्रिम तालाब बनाया गया और पाया कि उस तालाब में जितने जलचर प्राणी थे, उन सबकी कामवृत्ति समाप्त हो गई। सैक्स का संबंध व्यक्ति के तापमान से है। दूसरी ओर तापमान नीचे गिर जाने पर भी अधिकार की भावना बनी रहती है। अपने घर (निवास स्थान) को छोड़ना कोई पसंद नहीं करता। (संदर्भ : महावीर का पुनर्जन्म पृ. 202)

भगवान महावीर ने समस्या के मूल को पकड़ा और संभवतः इसलिए घर छोड़ने से पूर्व परिग्रह परित्याग का संकल्प जगाने का निर्देश दिया। राग, लोभ, अधिकार की भावना—ये सब परिग्रह के पर्याय हैं। शेष सारे निषेधात्मक भाव इसी परिग्रह पादप की कंटीली छाया में पलते हैं।

जब तक व्यक्ति इंद्रियों के अधीन रहता है, मन का अनुचर बन जाता है, तब तक उसका घर के प्रति आकर्षण बना रहता है। कषाय से अनुरंजित रहता है, ज्यों ही वह इंद्रिय और मन का निग्रह कर लेता है, उनका मालिक बन जाता है तब उसके आकर्षण की दिशा बदल जाती है। तब उसे कंटीली छाया में आनंद नहीं आता, घर अच्छा नहीं लगता। भृगु-पुत्र अपने माता-पिता से कहते हैं—

असासयं ढटहु इमं विहारं, बहुअंतरायं न य दीहमांउ।
तम्हा गिहंसि न रइं लहामो, आमंतयामो चरिस्सामु मोणं।।

पितृवर! हमने देखा है कि यह मनुष्य जीवन अनित्य है, उसमें भी विघ्न बहुत हैं और आयु थोड़ी है। इसलिए घर में हमें कोई आनंद नहीं है। हम मुनिचर्या को स्वीकार करने के लिए आपकी अनुमति चाहते हैं। मोक्ष की अभिलाषा और धर्म की श्रद्धा से प्रेरित होकर भृगु-पुत्रों ने ऐसा कहा था। (संदर्भ : उत्तराध्ययन सूत्र 29/2-4)

मोक्ष की अभिलाषा से व्यक्ति को अनुत्तर धर्मश्रद्धा प्राप्त होती है। अनुत्तर धर्मश्रद्धा से संवेग (मुमुक्षा) में तीव्रता आती है, भव और वैषयिक सुखों से विरक्ति हो जाती है। वह राग से विराग के पथ पर प्रस्थान कर देता है। अगार धर्म को छोड़ वह अनगारी बन जाता है। संयोग-वियोग-जन्य दुखों का विच्छेद कर वह निर्बाध सुख को प्राप्त करता है।

बहुश्रुत आचार्य शय्यंभव ने साधना के स्तरों का इसी क्रम से निरूपण किया है—

जो व्यक्ति जीव और अजीव को जानता है, वही संयम को जानता है।

तब वह सब जीवों की बहुविध गतियों को जान लेता है।

तब वह पुण्य, पाप, बंध और मोक्ष को जान लेता है।

तब वह दिव्य और मानुषिक भोगों से विरक्त हो जाता है।

तब वह बाहरी और भीतरी संयोगों को त्याग देता है।

तब वह मुंड होकर अनगार वृत्ति को अंगीकार कर लेता है।

तब वह उत्कृष्ट संवर वाले अनुत्तर धर्म का स्पर्श करता है।

तब वह पूर्वसंचित कर्म रज को प्रकंपित कर देता है।

तब वह केवलज्ञान और केवलदर्शन को प्राप्त कर लेता है।

तब वह जिन और केवली होकर लोक-अलोक को जान लेता है।

तब वह योगनिरोध कर शैलेशी अवस्था को प्राप्त करता है।

तब वह कर्ममुक्त होकर सिद्धि को प्राप्त करता है।

तब वह लोक के अग्रभाग में शाश्वत सिद्ध होता है।

(संदर्भ : दसवेआलियं 4/13-21)

निष्कर्ष के रूप में यही कहा जा सकता है कि कोई भी व्यक्ति अनगार की कक्षा में प्रविष्ट हुए बिना, घर छोड़े बिना, परिग्रह और अधिकार की वृत्ति का परिहार किए बिना अगली कक्षाओं में प्रवेश नहीं पा सकता।

यदि वह अनुत्तर धर्म का स्पर्श करना चाहता है, आत्मविहार और आत्मरमण करना चाहता है, वीतराग, केवली और सिद्ध बनना चाहता है तो उसे अगारवृत्ति का त्याग करना ही होगा।

वासुदेव कृष्ण ने मुमुक्षु थावच्चा-पुत्र से कहा था—आयुष्मान्! तुम घर क्यों छोड़ते हो, मैं तुम्हें प्रचुरमात्रा में धन-वैभव दे दूंगा और राज्य भी दे दूंगा। तुम घर में रहो।

थावच्चा-पुत्र ने कहा—वासुदेववर्य! यदि आप मुझे अमरता और अनामयता—ये दो चीजें दें तो मैं घर में रह सकता हूं। कृष्ण ने कहा—ये चीजें तो मैं नहीं दे सकता। मुमुक्षु बोला—तब तो मैं घर में भी नहीं रह सकता। रोग, जरा और मृत्यु से पीड़ित घर-परिवार-संसार मुझे इष्ट नहीं है। यदि आप अपने संपूर्ण राज्य का त्याग करें तो मुझे अर्धचक्रीश्वर (भारत के तीन खंडों) का अधिपति ही बना सकते हैं। इससे अधिक नहीं। किंतु, मेरे नाथ! मेरे स्वामी अरिष्टनेमि मुझे ऐसा राज्य देंगे कि मैं तीन लोक का अधिपति बन जाऊंगा।

अकिंचनोह मित्यास्व, त्रैलोक्याधिपतिर्भवेत्
योगिगम्यमिदं तथ्यं, रहस्यं परमात्मनः॥

प्रश्न हो सकता है कि भावधारा निर्मल हो गई तो घर छोड़ने की क्या जरूरत है और वह निर्मल नहीं हुई है तो घर छोड़ने से क्या होगा? घर छोड़ने और मुनि-वेश को धारण करने का बहुत बड़ा मूल्य है। आवश्यकनिर्युक्तिकार कहते हैं—

वही साधु वंदनीय है जो द्रव्यलिंग और भावलिंग दोनों से युक्त है। वही रुपया चलता है, जो शुद्ध होता है और सम अक्षरों में मुद्रांकित होता है। भावलिंग रुपये के समान है, द्रव्यलिंग मुद्रांकन के समान है।

भरत चक्रवर्ती ने आदर्शगृह में कैवल्य प्राप्त किया था। किंतु किसी कादाचित्क घटना का आलंबन लेकर जो व्यक्ति अनुष्ठान को, मुनिवेश को व्यर्थ मानता है वह अर्हत् द्वारा प्रतिपादित सचाई को नहीं जानता। केवल निश्चय नय को मान्य कर व्यवहार नय की उपेक्षा करने वाला तीर्थ का उच्छेद करता है।

कैवल्य प्राप्ति के पश्चात् इंद्र ने भरत से कहा—आप मुनिवेश को धारण करें, जिससे हम आपका निष्क्रमण महोत्सव मना सकें। भरत ने पंचमुष्टि केशलोच किया। देवेंद्र ने रजोहरण और प्रतिग्रह आदि उपकरण उपहृत किए। भरत राजमहलों में कैसे रह सकते थे? वे अनगार हो गए (संदर्भ : श्री भिक्षु आगम विषय कोश पृ. 555)।

घर छोड़ने का एक बहुत बड़ा लाभ यह है कि गृहत्यागी का इहलोक के साथ परलोक भी अच्छा हो जाता है। मुनि की दो ही गतियां हैं—देव या सिद्ध। निश्चय नय में जो अनगार है, वह शुभ देवगति में जाता है, किंतु जो कांदर्पी आदि अप्रशस्त भावनाओं से भाषित हो जाता है, वह अधम जाति का देव बनता है। जो द्रव्य अनगार भी नहीं, वह नरक, तिर्यंच आदि किसी भी गति में जा सकता है। ❖

पापी हो या पुण्यात्मा अथवा वध के योग्य अपराध करने वाला ही क्यों न हो, उन सबके ऊपर श्रेष्ठ पुरुष को सदैव दया करनी चाहिए, क्योंकि ऐसा कोई नहीं है जो सर्वथा अपराध न करता हो।

—महर्षि वाल्मीकि

मनुष्य-जीवन का एकमात्र युक्तियुक्त उद्देश्य परमात्मा की इच्छा की पूर्ति करना है, जिसने कि हमको इस विश्व में भेजा है। किंतु, परमात्मा की इच्छा किसी असाधारण दैवी चमत्कार, देवता की लेखनी, निर्भ्रांत धर्मग्रंथ अथवा निर्भ्रांत संत या संतों द्वारा नहीं मालूम की जा सकती, बल्कि सब मनुष्यों द्वारा बुद्धि का उपयोग करने से ही वह जानी जा सकती है। वे शब्दों और कार्यों द्वारा सत्य की अनुभूति को एक-दूसरे पर प्रकट करते रहते हैं और यह अनुभूति उनके आगे अधिकाधिक प्रकाशित होती रहती है। यह ज्ञान न तो कभी पूर्ण हुआ है और न आगे होगा, किंतु ज्यों-ज्यों मानव जाति प्रगति करेगी त्यों-त्यों उसमें वृद्धि होगी। जितना ही अधिक हम जीवित रहते हैं उतना ही हम परमात्मा की इच्छा को जान पाते हैं और फलस्वरूप यह भी जान पाते हैं कि हमको उसे पूरा करने के लिए क्या करना चाहिए।

❑ ❑❑❑

❑ सत्य : जीवन का कानून

❑ *लियो टॉलस्टाय*

क्या उन लोगों को, जो विशेष बौद्धिक योग्यता नहीं रखते, आंतरिक जीवन-संबंधी अपने अनुभवजनित सत्यों को शब्दों द्वारा प्रकट करना चाहिए? क्या अपने आंतरिक जीवन के बारे में पूर्ण और स्पष्ट ज्ञान प्राप्त करने की कोशिश करना सार्थक हो सकता है? संघर्ष अथवा शंका के समय हम यह कैसे मालूम करें कि जो कुछ हमको भान हो रहा है, वह अंतःकरण की आवाज है अथवा हमारी अपूर्णताओं द्वारा भ्रष्ट हुई बुद्धि की आवाज है?

मेरे खयाल से इन तीनों प्रश्नों का सार दूसरे प्रश्न में आ जाता है। कारण, यदि हम अपने आंतरिक जीवन के बारे में पूर्ण और स्पष्ट ज्ञान प्राप्त करने की कोशिश न करेंगे तो हम अपने अनुभवजनित सत्यों को शब्दों द्वारा प्रकट नहीं कर सकते और शंका पैदा हो जाने पर हमारे पास अंतःकरण और भ्रमपूर्ण बुद्धि में भेद करने का कोई साधन नहीं होगा। किंतु, यदि हम अपनी मानसिक शक्तियों का पूर्ण उपयोग करके (चाहे वे अल्प हों या महान) अधिक से अधिक स्पष्ट ज्ञान प्राप्त करना उचित समझेंगे तो हम अपने अनुभवजनित सत्यों को शब्दों द्वारा प्रकट कर सकेंगे और उन सत्यों के द्वारा, जो अधिक से अधिक स्पष्ट और शब्दों द्वारा प्रकट हो चुके होंगे, हम संघर्ष और शंका के समय अपना मार्ग तय कर सकेंगे। इसलिए मूल प्रश्न का उत्तर मैं 'हां' में देता हूं, अर्थात् प्रत्येक मनुष्य को उस उद्देश्य की पूर्ति के लिए, जिसके लिए वह इस संसार में भेजा गया है और वास्तविक कल्याण की प्राप्ति के लिए (दोनों समान हैं) अपने आधारभूत धार्मिक तत्त्वों को मालूम करने के लिए अपनी संपूर्ण बौद्धिक शक्ति खर्च कर देनी चाहिए।

दूसरे शब्दों में, उसे जीवन का लक्ष्य स्पष्ट कर लेना चाहिए। नहरें आदि खोदने का काम करने वाले अनपढ़ मजदूरों में, जिनको घनफुट के हिसाब से मजदूरी दी जाती है, मैंने अकसर यह धारणा प्रचलित पाई है कि गणित के हिसाब भ्रमात्मक होते हैं और उन पर विश्वास नहीं करना चाहिए। इसका कारण या तो यह हो सकता है कि ये मजदूर गणित नहीं जानते या यह कि जो लोग इनके काम का हिसाब लगाते हैं, वे जानबूझ कर या अनजाने में उनको धोखा देते हैं। कारण कुछ भी हो, वस्तुस्थिति यह है कि इन अनपढ़ मजदूरों में परिमाण का अंदाजा लगाने के लिए गणित की पर्याप्तता अथवा उपयोगिता के बारे में अविश्वास घर कर गया है और उनमें से अधिकांश इस अविश्वास को निर्विवाद रूप से सत्य समझ बैठे हैं, जिसे सिद्ध करने की भी वे कोई आवश्यकता नहीं समझते। इसी प्रकार की धारणा उन लोगों में भी घर कर गई है जिनको मैं निर्भय होकर अधार्मिक कह सकता हूं। इन लोगों का

खयाल है कि बुद्धि द्वारा धार्मिक समस्याओं को हल नहीं किया जा सकता; उनको हल करने के लिए जो बुद्धि का प्रयोग किया जाता है, वही भ्रांतियों का मुख्य कारण है और धार्मिक समस्याओं को बुद्धि द्वारा हल करना मिथ्या अभिमान का द्योतक है। मैंने इस बात का उल्लेख इसलिए किया है कि उपरोक्त प्रश्नों में जो यह शंका प्रकट की गई है कि मनुष्य को पूर्ण और स्पष्ट जानकारी प्राप्त करने की कोशिश करनी चाहिए अथवा नहीं, वह इसी विचार के आधार पर उत्पन्न हो सकती है कि धार्मिक समस्याओं को हल करने के लिए बुद्धि का प्रयोग नहीं किया जा सकता। किंतु, यह विचार उतना ही विचित्र और गलत है जितना कि यह विचार कि हिसाब के द्वारा गणित के प्रश्नों को हल नहीं किया जा सकता।

मनुष्य को परमात्मा से एक ही साधन मिला है, जिसके द्वारा वह अपने-आप को और इस विश्व के प्रति अपने संबंध को जान सकता है। यह साधन और कुछ नहीं, केवल बुद्धि है, किंतु एकाएक उसे यह बतलाया जाता है कि अपने घर-परिवार, व्यवसाय, राजनीति-विज्ञान अथवा कला-संबंधी समस्याओं पर प्रकाश डालने के लिए तो बुद्धि का उपयोग किया जा सकता है, पर उस कार्य के लिए उसका उपयोग नहीं किया जा सकता, जिसके लिए वह उसे प्रदान की गई है। दूसरे शब्दों में, जिन अत्यंत महत्त्वपूर्ण सत्यों पर मनुष्य का समस्त जीवन निर्भर करता है, उन पर प्रकाश डालने के लिए मनुष्य किसी भी दशा में बुद्धि का उपयोग न करे, बल्कि उन सत्यों को अपनी बुद्धि से पृथक् स्वीकार करे, हालांकि अपनी बुद्धि से पृथक् वह कुछ नहीं जान सकता। लोग कहते हैं : 'स्फूर्ति द्वारा, श्रद्धा द्वारा सत्यों को पहचानो!' किंतु सचाई यह है कि मनुष्य बुद्धि की सहायता के बिना किसी बात को भी मान नहीं सकता। यदि मनुष्य एक बात को मानता है और दूसरी को नहीं, तो वह ऐसा सिर्फ इसीलिए करता है कि उसकी बुद्धि उसे यह कहती है कि उसको अमुक बात माननी चाहिए और अमुक नहीं।

मनुष्य को बुद्धि का उपयोग नहीं करना चाहिए, यह कहना ठीक वैसा ही है जैसा कि उस मनुष्य को, जो एक अंधेरी सुरंग में दीपक लिए जा रहा हो, यह कहना कि उसे रास्ता खोजने के लिए दीपक को बुझा देना चाहिए और प्रकाश का नहीं, बल्कि और किसी वस्तु का सहारा लेना चाहिए।

किंतु, शायद यह कहा जाएगा कि सभी मनुष्य महान बौद्धिक शक्तियों के स्वामी नहीं होते और खासकर अपने विचारों को प्रकट करने की क्षमता नहीं रखते और इसलिए वे धर्म के संबंध में अपने विचारों को बेढंगेपन से प्रकट कर गलती कर सकते हैं। इसका मैं बाइबिल के शब्दों में यह उत्तर दूंगा कि बुद्धिशाली जिस बात को नहीं जानते, वह शिशुओं को ज्ञात होती है। यह कहावत अत्युक्ति अथवा आलंकारिक नहीं, बल्कि अत्यंत सरल और निर्विवाद सत्य है। दूसरे शब्दों में इस संसार के प्रत्येक प्राणी के लिए एक कानून बना दिया गया है, जिसका उसे अनुसरण करना चाहिए और इस कानून को जानने के लिए प्रत्येक प्राणी को योग्य इंद्रियां दी गई हैं और इसीलिए प्रत्येक मनुष्य को बुद्धि प्रदान की गई है और उस बुद्धि के द्वारा ही मनुष्य को उस कानून का ज्ञान होता है, जिसका उसे पालन करना चाहिए। इस कानून का केवल उन्हीं लोगों को पता नहीं चलता, जो उस पर अमल नहीं करना चाहते और जो कानून की अवहेलना करने के लिए बुद्धि को तिलांजलि दे देते हैं और सत्य का पता लगाने के लिए जो बुद्धि उन्हें मिली होती है, उसका उपयोग करने के बजाय श्रद्धापूर्वक उन लोगों का पथ-प्रदर्शन स्वीकार कर लेते हैं, जो बुद्धि को तिलांजलि दे चुके होते हैं।

मनुष्य को जिस कानून पर अमल करना चाहिए, वह इतना सरल है कि जिसको हरेक बच्चा भी समझ सकता है, खासकर इसलिए कि मनुष्य को अपने जीवन के इस कानून की कोई नई खोज करनी नहीं पड़ती। हमारे पूर्वज उसकी खोज कर चुके और उसको व्यक्त भी कर चुके। जो मंतव्य परंपरा में व्यक्त हैं, मनुष्य को केवल अपनी बुद्धि की कसौटी पर उन्हें परख लेना चाहिए और फिर स्वीकार या अस्वीकार कर देना चाहिए, किंतु जो लोग उस कानून का पालन नहीं करना चाहते उनकी सलाह पर उसे नहीं चलना चाहिए।

परंपरा के खयाल से उसे अपनी बुद्धि की गति को न रोकना चाहिए, बल्कि इसके विपरीत परंपरा पर बुद्धि का अंकुश रखना चाहिए। मनुष्य ही परंपरा का निर्माण करता है और वह गलत भी हो सकती है, किंतु बुद्धि निश्चय ही परमात्मा की देन है और गलत नहीं हो सकती। इसलिए सत्य को जानने और प्रकट करने के लिए खास महान योग्यता की आवश्यकता नहीं होती, हमको केवल यह मान लेना चाहिए कि सत्य को प्राप्त करने के लिए मनुष्य के पास बुद्धि न केवल सर्वश्रेष्ठ दैवी गुण है, बल्कि एकमात्र अस्त्र है।

सत्य को जानने और प्रकट करने के लिए नहीं, बल्कि असत्य का आविष्कार करने और उसको प्रकट करने के

लिए विशेष योग्यता और बौद्धिक प्रतिभा की आवश्यकता होती है। एक बार जब लोग बुद्धि के पथ-प्रदर्शन को छोड़ देते हैं और उस पर विश्वास करने के बजाय दूसरे लोगों द्वारा प्रतिपादित सत्य को सहज भाव से स्वीकार कर लेते हैं तो वे आम तौर पर नियमों, ईश्वरीय मंतव्यों और धार्मिक विधानों की ओट में ऐसे जटिल, अस्वाभाविक और परस्पर असंगत मंतव्यों का पहाड़ खड़ा कर लेते हैं और उन्हें तत्परतापूर्वक स्वीकार कर लेते हैं कि इन मंतव्यों को प्रकट करने और सत्य के साथ उनका मेल बिठाने के लिए वस्तुतः भारी बौद्धिक सूक्ष्मता और असाधारण प्रतिभा की आवश्यकता होती है।

आप कल्पना कीजिए कि आपने आज की दुनिया में जन्म लिया है और आपको प्रचलित धार्मिक संप्रदायों के धार्मिक विश्वासों की शिक्षा दी गई है। अब यदि आप उन धार्मिक सिद्धांतों पर प्रकाश डालने का प्रयत्न करें जो आपको बचपन में सिखाए गए थे और उनका वास्तविक जीवन के साथ मेल बिठाने लगें तो आपको अपने संप्रदाय की विरोधी बातों में सामंजस्य लाने के लिए कितना भारी बौद्धिक श्रम करना पड़ेगा, अर्थात् यह कि जो ईश्वर सृष्टिकर्ता और दयालु है, वही बुराई को जन्म देता है, लोगों को नरक भेजता है और गुनाहों से छुटकारा देने के लिए भेंट-पूजा चाहता है। हम खुद प्रेम और क्षमा के कानून को मानते हैं, फिर भी हम लोगों को फांसी पर चढ़ाते हैं, युद्ध करते हैं और गरीबों के परिश्रम का फल छीन लेते हैं।

इस न हल होने वाली भूलभुलैया से छुटकारा पाने के लिए अथवा उस पर पर्दा डालने के लिए महान योग्यता और विशेष बौद्धिक प्रतिभा की आवश्यकता होती है; किंतु अपने जीवन के नियम को जानने अथवा अपने विश्वास के बारे में पूर्ण और स्पष्ट जानकारी प्राप्त करने के लिए खास बौद्धिक योग्यता की आवश्यकता नहीं, हमको सिर्फ इतनी-सी सावधानी रखनी चाहिए कि हम बुद्धि के विपरीत कुछ स्वीकार न करें, अपनी बुद्धि को इंकार न करें, धार्मिकता के साथ बुद्धि की रक्षा करें और केवल उसी में श्रद्धा रखें।

यदि किसी मनुष्य को अपने जीवन का उद्देश्य अंधकारमय प्रतीत होता है तो इससे यह सिद्ध नहीं होता कि उसकी बुद्धि उस उद्देश्य पर प्रकाश डालने में असमर्थ होती है, इससे सिर्फ यह पता चलता है कि उसने अनेक ऐसी बुद्धि-विसंगत बातों को स्वीकार कर लिया है। अतः जिन बातों को बुद्धि की कसौटी पर नहीं कसा गया है, उन्हें दूर हटा देना चाहिए।

इसलिए हमको आंतरिक जीवन की स्पष्ट जानकारी प्राप्त करने की कोशिश करनी चाहिए या नहीं—इस मुख्य प्रश्न का मैं यह उत्तर देता हूं कि यही सबसे आवश्यक और महत्त्वपूर्ण बात है, जो हमको अपने जीवन में करनी चाहिए। यह इसलिए आवश्यक और महत्त्वपूर्ण है कि मनुष्य-जीवन का एकमात्र युक्तियुक्त उद्देश्य परमात्मा की इच्छा की पूर्ति करना है, जिसने कि हमको इस विश्व में भेजा है। किंतु, परमात्मा की इच्छा किसी असाधारण दैवी चमत्कार, देवता की लेखनी, निर्भ्रांत धर्मग्रंथ अथवा निर्भ्रांत संत या संतों द्वारा नहीं मालूम की जा सकती, बल्कि सब मनुष्यों द्वारा बुद्धि का उपयोग करने से ही वह जानी जा सकती है। वे शब्दों और कार्यों द्वारा सत्य की अनुभूति को एक-दूसरे पर प्रकट करते रहते हैं और यह अनुभूति उनके आगे अधिकाधिक प्रकाशित होती रहती है। यह ज्ञान न तो कभी पूर्ण हुआ है और न आगे होगा, किंतु ज्यों-ज्यों मानव जाति प्रगति करेगी त्यों-त्यों उसमें वृद्धि होगी। जितना ही अधिक हम जीवित रहते हैं उतना ही हम परमात्मा की इच्छा को जान पाते हैं और फलस्वरूप यह भी जान पाते हैं कि हमको उसे पूरा करने के लिए क्या करना चाहिए।

इसलिए मेरे खयाल से उन सब सत्यों को, जो मनुष्य के लिए सुलभ हैं, समझना और उनको शब्दों द्वारा प्रकट करना (शब्दों द्वारा किसी बात को प्रकट करना विचारों की संपूर्ण स्पष्टता का द्योतक होता है) प्रत्येक मनुष्य का, चाहे वह अपने अथवा दूसरों के नजदीक कितना ही छोटा क्यों न प्रतीत होता हो—छोटे ही बड़े होते हैं—एक मुख्य और अत्यंत पवित्र कार्य है। ❖

नदी का यह किनारा आह भरकर कहता है, 'सामने के किनारे पर ही तमाम सुख हैं, यह मैं अच्छी तरह जानता हूं।' सामने का किनारा पहले वाले से भी गहरी आह भर कर कहता है, 'जगत में जितना सुख है वह सारा उस किनारे पर है।'

—रवींद्रनाथ ठाकुर

सारी रात सुंदरानंद ने मानो अग्निशय्या पर करवटें बदलते ही बिताई। गौतम का उसने जो घोर अपमान किया था, उससे वह खुद अपने को ही अपमानित महसूस करने लगा। सूरज के सामने धूल उड़ाने वाले की जो दशा होती है, वैसी ही उसे अपनी दशा लगने लगी। उसका मन ही विद्रोह कर उठा—गौतम का मार्ग पसंद नहीं था तो मुंह-दर-मुंह यह बात कह देने से उसे कौन रोकता था? बुद्ध के ऐसे हीन अनादर के पीछे कहीं उसके अंतर की भीरुता ही तो काम नहीं कर रही थी, नहीं तो इस तरह दुबककर बैठने का क्या अर्थ? कल्याण का दावा करने वाले गौतम को साफ-साफ नहीं कहा जा सकता कि तू खुद ही गलती पर है, भ्रमित और मार्ग से भटका हुआ है? काया का कल्याण तो देख मैं कर रहा हूं। यह आनंद-वैभव, यह राग-रंग और कहां मिलेगा? जितने वर्ष गौतम ने तपस्या में हड्डी गलाई, इतने वर्षों में तो सुंदरानंद ने सौंदर्य की यह अनुपम अलका खड़ी कर ली है। ऐसी मनोहर और मदभरी सृष्टि का त्याग कर रास्ते की धूल फांकने और भीख के टुकड़े मांगते भटकने में भला क्या चतुराई?

❑ ❑❑❑

❑ फटी आंख सुंदरानंद

❑ *मकरन्द दवे*

भगवान बुद्ध बोधि-प्राप्ति के बाद पहली बार ही कपिलवस्तु आए थे। नगर के बाहर अमराई में ठहरे थे। महाराज शुद्धोदन और महाप्रजापति देवी के हर्ष का तो कोई ठिकाना ही नहीं था। कुमार राहुल को आगे कर यशोधरा ने उसे पिता की विरासत दिलाई। शाक्यकुल के उतावले जवान घुंघरुओं से खनकते रथों में बैठकर भगवान के दर्शनों को आते और उनसे मिलकर अपूर्व शांति प्राप्त करते। युद्ध और शिकार में ही मगन रहने वालों को यहां क्षमा और सब प्राणियों के प्रति करुणा की मंगलध्वनि सुनने को मिलती। अभी तक तो प्रतिस्पर्धी के आर्तनाद को शिकार में मरने वाले की चीख मानकर उस पर गर्वानुभव करते थे, अब वे अपनी उस मनोवृत्ति पर शर्म से नतमस्तक होते हैं। अब तो मनुष्य-जीवन को गौरव देने और धन्य करने वाली आत्मविजय की एक नई और उज्ज्वल सीमा उनके सामने प्रकट हुई है।

भगवान की अमृतवाणी सुनते कोई अघाता नहीं। कपिलवस्तु के समस्त नर-नारी उसे सुनने के लिए सोत्साह दौड़े आते हैं। भगवान बुद्ध का प्रशांत निर्मल स्मित बिना किसी भेदभाव के सभी का स्वागत करता है। ब्राह्मण से लेकर चांडाल तक सभी उनका अगाध प्रेम पाते हैं। इसी से उनका दर्शन किए बिना नगर का कोई निवासी बाकी नहीं रहा। अलबत्ता एक ही ऐसा व्यक्ति रहा, जो जान-बूझकर मिलने नहीं आया। वह था सुंदरानंद।

उसका नाम तो आनंद था, परंतु वह इतना सुंदर था कि सब उसे सुंदरानंद ही कहते थे। भगवान बुद्ध का यह चचेरा भाई था, जो उन्हें अत्यंत प्रिय था और बचपन में छाया की तरह उनके साथ रहने वाला साथी था। परंतु, आज अनेक वर्षों की कठोर तपस्या के बाद बुद्धत्व प्राप्त करके आने पर अपने इस भाई से मिलने की उसने जरूरत नहीं समझी। वस्तुतः उसे बुद्ध से भारी अरुचि हो गई थी। इसीलिए कपिलवस्तु के नागरिक जब बुद्ध की वाणी सुनने में तल्लीन थे, तब सुंदरानंद

अपने विशाल राजमहल में गाने-बजाने में तल्लीन बैठा था।

एक दिन भगवान ने पूछा : 'सुंदरानंद भला क्यों नहीं दिखाई पड़ता?'

उत्तर मिला, 'आप तो उसे जानते ही हैं प्रभु, वह शुरू से ही विलासी जीव है। आपका तो मुख तक न देखने की उसने सौगंध खाई है।'

'क्या यह सच है?'

'हां प्रभु, आपका नाम लेने पर तो वह घृणा से सुलग पड़ता है। महाभिनिष्क्रमण का मजाक उड़ाते तो वह कभी थकता ही नहीं।'

भगवान बुद्ध ने हंसकर कहा : 'वाह, यह तो बढ़िया बात है। सुंदरानंद ने मेरा मुंह न देखने की सौगंध खाई हो तो मुझे तो उसका मुंह अवश्य देखना चाहिए। मेरा तो वह पुराना मित्र है। उससे मिले बिना कैसे रहा जा सकता है? कल उसके यहां ही भिक्षा के लिए जाऊंगा।'

भगवान से ऐसा न करने के लिए बहुतों ने कहा। उन्हें शक था कि सुंदरानंद भगवान का बुरी तरह अपमान करेगा और हो सकता है कि हत्या तक कर डाले। परंतु, बुद्ध ने किसी की नहीं मानी और दूसरे दिन भिक्षापात्र ले सुंदरानंद के महल चल पड़े।

एक समय था, जब गौतम से जरा देर को जुदा होने पर भी सुंदरानंद का हृदय चीत्कार कर उठता था। दोनों में ऐसा प्रेम था। परंतु, गौतम के गृह-त्याग के बाद सुंदरानंद का मन फिर गया। उसे लगा कि गौतम ने पागल, भगोड़े और गंवार का मार्ग अपनाया है और अब भगवान बनकर अपनी पूजा कराने का ढोंग रच रहा है। सुख के साधनों के होते हुए रास्ते का भिखारी बन भटकते फिरना उसे निरी मूर्खता लगी। और ऐसे पागल को भगवान बुद्ध मानकर लोग पैर छूने दौड़ते, तो उसे ऐसा गुस्सा आता और इतनी नफरत होती कि कुछ न कहिए। इसी से बुद्ध का मुंह न देखने की उसने सौगंध खा ली। ऐसे में उसे खबर मिली कि बुद्ध स्वयं उसके यहां आ रहे हैं।

अब क्या करूं? विवेक और विनय की खातिर ही उसका भिक्षापात्र भर दूं? अतिथि के रूप में तो आदर-सत्कार करना ही चाहिए न? परंतु, सुंदरानंद इतना कच्चा नहीं था। जिसके प्रति अत्यंत तिरस्कार था, उसके सामने हाथ जोड़कर हंसते हुए खड़े होने में उसे निरा दंभ लगता था। सुंदरानंद को ऐसा कपट करना नहीं आता था। अंदर कुछ और ऊपर से कुछ और, ऐसा उसका स्वभाव नहीं था। वह तो जैसा है, वैसा ही रहने में विश्वास करता था। और लोगों के सामने आबरू जाने के भय से अपने को जो ठीक लगे वह करने से सुंदरानंद अचकचाए, ऐसी उसकी प्रवृत्ति नहीं थी। इसलिए उसने द्वारपाल से कहा कि गौतम भिक्षा के लिए आए तो उसे धक्के देकर निकाल देना और इतने पर भी न माने तो उसका भिक्षा-पात्र तथा सिर तोड़ डालने में भी संकोच न करना।

ऐसा कठोर आदेश दे सुंदरानंद तो वसंतोत्सव के राग-रंग में मस्त हो गया। हरिणी जैसी चपल और सुंदर नर्तकियों तथा वन-पक्षियों जैसी गायिकाओं के वृंद में वसंतोत्सव की शोभा बढ़ाती वीणा-झंकार भी झंकृत होने लगी। ऐसे आनंदोत्सव में वह इस बात को भूल ही गया कि एक बैरागी की रूखी-सूखी काया उससे मिलने आ रही है।

भगवान बुद्ध सुंदरानंद के दरवाजे कब आए और कब चले गए, इसकी उसे भनक तक न पड़ी। द्वारपाल जब सूचना देने आया तो उसकी बात सुनने के लिए कुछ देर को मयूर-नृत्य रुका। तब उसने देखा कि द्वारपाल के चेहरे पर खुशी और अंतर में कृतार्थता का भाव था। उसने कहा : 'महाराज, भगवान बुद्ध महल के द्वार पर आए थे। आपके आदेश के अनुसार मैं हाथ अड़ाकर उन्हें रोकने लगा तो वे स्वयं ही रुक गए। ओह! उनके नेत्रों में कैसा प्रेम छलक रहा था! प्रेमपूर्ण आँखों से मुझे देखते हुए वह यह कहकर वापस चले गए, 'मित्र, तेरा कल्याण हो। भाई सुंदर से यह कह देना कि अंतर से उसका कल्याण चाहते हुए मैं आया था और अत्यंत कल्याण चाहते हुए ही जा रहा हूं।'

सुंदरानंद ने द्वारपाल के भावविह्वल मुख की ओर विशेष ध्यान न दे उसे तुरंत विदा कर दिया। जैसे कुछ न हुआ हो और मयूर-नृत्य फिर शुरू करा दिया। परंतु फिर वह रंग न जमा, मानो कल्याण-कामना के दो शब्द अंतर को वेध गए हों। अपमान के बावजूद आशीर्वाद दे गई भिक्षु की मूर्ति रस-गान के स्वरों को वेधती, मूक मुस्कान बिखेरती सामने खड़ी दिखाई पड़ती थी। सारा दिन इसी तरह निकल गया, शाम भी हो गई। रात्रि का घोर अंधकार छाया और कौन जाने कैसे सुंदरानंद का मन बेचैन होने लगा। कोई अनदेखा शूल उसको सालने लगा था।

जब सब राग-रंग बंद होकर महल में सुनसान हो गया, तो द्वारपाल से सुने बुद्ध के शब्दों ने सुंदरानंद को समुद्र की गरजती हुई लहरों की तरह घेर लिया। उसके हृदय-पट का परदा हटाते हुए गंभीर गर्जन की तरह वे शब्द रह-रहकर गूंजने लगे : 'भाई सुंदर से कह देना कि अंतर से उसका कल्याण चाहते हुए मैं आया था और अत्यंत कल्याण चाहते हुए ही लौट रहा हूं।'

सुंदरानंद के अणु-अणु को इस सीधे-सादे वाक्य ने हिला दिया। अग्निशिखा ऊंची करके सुंदरानंद का अंतर मानो उससे कहता हो, 'तेरा परम कल्याण चाहता वह तेरे द्वार पर आया, और तू? तूने उसके साथ क्या सलूक किया? तूने तो उसे कुत्ते की तरह बाहर निकाल दिया। कहां गई तेरी कुलीनता? कहां गई तेरी कृतज्ञता? धिक्कार है तुझे सुंदरानंद, लाख बार धिक्कार है!'

सुंदरानंद के हृदय में अनुताप की भट्ठी जल उठी। अपमानित होकर गौतम ने उसे शाप दिया होता तो उसे बुरा नहीं लगता। शोरगुल करके उसके राग-रंग में विघ्न डाला होता तो उसे हंसी में उड़ा जाता। परंतु गौतम ने तो न कोई सख्त बात कही, न अपमान का बदला लेने के लिए बांहें ही चढ़ाईं। उसने तो अपार प्रेम और क्षमा के साथ सुंदरानंद की कल्याण-कामना ही की—आत्यंतिक कल्याण, जिसे पाने के बाद मनुष्य को विशेष कुछ पाने को रहता ही नहीं।

सारी रात सुंदरानंद ने मानो अग्निशय्या पर करवटें बदलते ही बिताई। गौतम का उसने जो घोर अपमान किया था, उससे वह खुद अपने को ही अपमानित महसूस करने लगा। सूरज के सामने धूल उड़ाने वाले की जो दशा होती है, वैसी ही उसे अपनी दशा लगने लगी। उसका मन ही विद्रोह कर उठा—गौतम का मार्ग पसंद नहीं था तो मुंह-दर-मुंह यह बात कह देने से उसे कौन रोकता था? बुद्ध के ऐसे हीन अनादर के पीछे कहीं उसके अंतर की भीरुता ही तो काम नहीं कर रही थी, नहीं तो इस तरह दुबककर बैठने का क्या अर्थ? कल्याण का दावा करने वाले गौतम को साफ-साफ नहीं कहा जा सकता कि तू खुद ही गलती पर है, भ्रमित और मार्ग से भटका हुआ है? काया का कल्याण तो देख मैं कर रहा हूं। यह आनंद-वैभव, यह राग-रंग और कहां मिलेगा? जितने वर्ष गौतम ने तपस्या में हड्डी गलाई, इतने वर्षों में तो सुंदरानंद ने सौंदर्य की यह अनुपम अलका खड़ी कर ली है। ऐसी मनोहर और मदभरी सृष्टि का त्याग कर रास्ते की धूल फांकने और भीख के टुकड़े मांगते भटकने में भला क्या चतुराई? अरे, भारी भूल हो गई। गौतम को ही एक बार नव-वसंत का उत्सव देखने के लिए आमंत्रित किया होता, तो वह अपना पागलपन भूल जाता। सुंदरानंद-कला के सामने उसका कषायधारी वैराग्य पिघलकर पानी न हो जाता? कुछ भी हो, है तो वह भाई ही, उसे ठीक रास्ते लाना सुंदरानंद का फर्ज नहीं है?

दूसरे दिन बड़े सवेरे सुंदरानंद ने रथ तैयार कराया और जिस अमराई में भगवान बुद्ध ठहरे हुए थे उस ओर सरपट चल पड़ा। सुंदरानंद को आते देख भगवान बुद्ध स्वागत के लिए उठे और पांच पग आगे चल सुंदरानंद से आलिंगनबद्ध होकर भेंट की और उसे आदर से अपने पास बिठाया। सुंदरानंद तो इस केश-मुंडित पीत चीवरधारी, परंतु अवर्ण्य सौंदर्य से शोभित संन्यासी को अचरजभरी निगाह से देखता ही रह गया। अपने जरीदार कपड़ों से उसे झेंप लगने लगी। सुंदरानंद के क्षोभ को समझकर भगवान ने कहा : 'चिंता की कोई बात नहीं आनंद, ये तो सर्प की केंचुली से भी ज्यादा देह से अलग हैं, उतारने में कोई दिक्कत नहीं होती।'

परंतु सुंदरानंद इतनी सरलता से फंसने वाला नहीं था। कुछ देर में ही आपे में आ उसने बुद्ध को कुरेदना शुरू किया। मनुष्य को दुर्लभ ऐसा राजवैभव छोड़कर रास्ते के भिखारी होकर उन्होंने राजकुटुंब को कैसा कलंकित किया है—यह सुंदरानंद ने साफ-साफ बता दिया। साथ ही मानव-जन्म का कैसा अलभ्य अरमान दिमाग में एक फितूर सवार होते ही गौतम ने कैसे गंवा दिया—यह भी विस्तार से बताया। सुंदरानंद के मंतव्यों और आक्षेपों को भगवान बुद्ध मंद और मर्मपूर्ण स्मिति के साथ सुन रहे थे। सुंदरानंद को लगा कि उसकी बात गौतम के गले उतर रही है, लेकिन जब उसके प्रहारों का अंत हो गया तो भगवान ने कहा : 'परंतु आनंद! मुदिता को त्यागने के लिए तो मैं नहीं कहता। मैं तो सबको परम मुदिता, परम आनंद ही देना चाहता हूं। इस दुर्लभ मानव-जन्म को कौड़ियों के मोल बर्बाद न करने की बात ही तो मैं कहता हूं। और तुम जिसे आनंद-वैभव मानते हो उसका मोल तो कौड़ियों जितना भी नहीं। आनंद के खजाने की चाबी तो मुझे मिली है। खीर खिलाने के लिए आने वाले को तू खट्टी छाछ का प्याला देने क्यों बैठा है?'

सुंदरानंद ने कहा, 'गौतम, मेरा भोग-वैभव तूने नहीं देखा, इसीलिए तू ऐसा कह सकता है। दुनिया-भर की सौंदर्य और माधुर्य की श्रेष्ठ सामग्री मैंने इकट्ठी की है। उसकी समानता करने वाला विश्व-भर में कोई नहीं। चल, मेरी गायिका की एक ही स्वर-लहरी से तेरी मौन-समाधि न टूट पड़े तो कहना। चल मेरे साथ।'

सुंदरानंद के गर्वीले मुख की ओर अनुकंपा की एक नजर डालकर बुद्ध ने कहा : 'आनंद, है तो यह आखिर मनुष्य की रस-सृष्टि ही न? कितनी स्थूल, ग्राम्य और भद्दी है यह, इसका तुझे कोई खयाल नहीं; क्योंकि इससे सूक्ष्म और सुंदर लोक तुझे दृष्टिगत नहीं हुए। तेरा अच्छे-से-अच्छा संगीत भी किन्नरों के आगे बेसुरा और बचकाना लगेगा। सुनना हो तो चल, सुनवाऊं।'

सुंदरानंद यह सुन फटी आंखों भगवान की ओर देखने लगा। उसके अखूट वैभव और भोग-विलास का बुद्ध पर कोई असर तो पड़ा नहीं, उलटे उस आनंद-सामग्री को उन्होंने कूड़ा-करकट बता दिया। भगवान बुद्ध के आह्वान को कटाक्ष के रूप में सहन कर सुंदरानंद ने कहा : 'गौतम, तू तो जानता ही है कि मैं सदा ही रस-लोलुप रहा हूं। कल्पना का अपना किन्नर-लोक जरा बता तो सही।'

सुंदरानंद की हंसी की परवाह न कर बुद्ध ने उसे अपने पास बिठा कर एक प्रशांत, पर पारगामी दृष्टि से उसके अंतर्पट को खोल दिया। सुंदरानंद की सौंदर्यमुग्ध आंखों में किन्नरों की नयनमनोहर रमणीयता बस गई। किन्नरों के अपूर्व संगीत को सुनकर तो वह चकित ही रह गया। कुछ देर बाद वह स्वस्थ हुआ तो देखा कि बुद्ध के नेत्र मातृवात्सल्यवत् उस पर आनंद बरसा रहे हैं। सुंदरानंद ने बुद्ध के चरण पकड़ लिए और बोला : 'अद्‌भुत! गौतम, सचमुच अद्‌भुत! किन्नरों के सुवर्णकांति सम शरीर के सामने हम तो सुंदरता की मात्र वानरी (बंदरों के समान) नकल करने वाले हैं और उनकी संगीत-साधना के सामने हमारी क्या गिनती? सरगम के घोटने वाले अपने को समझें तो भी बहुत। मुझे अब अपना वसंत-गान अच्छा नहीं लग सकता। मदनोत्सव का सारा मंजा किरकिरा हो गया। हमारा नाच-गान तो सब गुड्डे-गुड़ियों का खेल जैसा ही लगेगा, गौतम!'

'परंतु', बुद्ध ने कहा, 'किन्नर भी कुछ नहीं, आनंद! गंधर्वों की सौंदर्य-उपासना अभी तूने नहीं देखी। गंधर्वों का सप्तरंगी नगर नहीं देख लेता तब तक ही तू किन्नरों का गुणगान करेगा। जरा देख तो ले।'

और भगवान बुद्ध के इतना कहते ही सुंदरानंद को गंधर्वलोक दृश्यमान हो गया। गंधर्वों की रूप-माधुरी, नृत्य-छटा और उनका आनंद-विलास देख सुंदरानंद भौंचक रह गया। उसे लगा कि वैभव और विलास का उपभोग तो सचमुच गंधर्वों ने ही किया है। किंतु, उसका भ्रम दूर करते हुए बुद्ध ने कहा : 'आनंद! गंधर्वों को देखते ही तू तो मानो पिघल गया। लेकिन, देवताओं के सामने तो ये बेचारे एकदम कंगाल हैं और देवराज इंद्र के वैभव के सामने तो देवता भी कुछ नहीं। इंद्र की

सभा का नृत्य तू एक बार देख ले तो मुझे लगता है, तू फिर नीचे उतरने का नाम ही नहीं लेगा।'

सुंदरानंद अवाक् हो सुनता रहा। भगवान बुद्ध ने आगे कहा : 'परंतु आनंद! इंद्र का सुख भी कुछ नहीं, क्योंकि मनुष्य के उपभोगों के समान ही दिव्य-भोग भी नाशवान हैं। जिनके अंतर की तृष्णा मिट गई है और जिनका आत्मदीप प्रज्वलित हो चुका है, ऐसे एकाध अकिंचन मनुष्य के लिए करोड़ों इंद्रों का सुख भी किसी गिनती में नहीं। प्रारंभ में प्राप्ति की विह्वलता, मध्य में भोग की लोलुपता और अंत में वियोग का भय रहे—ऐसे सुख को कोई बुद्धिमान मनुष्य क्या सच्चा सुख कह सकता है? यह सब तो परछाईं को मुट्ठी में भरने जैसा है। आनंद! जो सुख बाह्य परिस्थिति या सामग्री पर निर्भर करता हो, वह तो सच पूछो तो पराधीनता है, जिसमें सच्चा सुख नाममात्र भी नहीं। इसलिए आत्मस्थ बन और अक्षय, अभय और आनंद-रूप निर्वाण-सुख को अपना ले। तेरा मोहजाल छिन्न-भिन्न हो जाए तो अनंत ब्रह्मांड में भी जिसकी कोई बराबरी नहीं, ऐसा अमृतफल तेरे अपने ही हाथ में है। समय बीता जा रहा है। समय रहते चेत जा। प्रमाद न कर। मृत्यु का पंजा पड़े, उससे पहले ही स्मृति को जाग्रत कर अमर जीवन को प्राप्त कर ले।'

बुद्ध का उद्‌बोधन सुन सुंदरानंद की आंखें खुल गईं। उसके नेत्रों के सम्मुख अपने जड़ महल से कहीं महान भगवान बुद्ध का प्रज्ञा-प्रासाद, मूर्तिमान हो गया। उसने सजल नेत्रों से कहा : 'भगवन, आज तक तो मैं काठ-कबाड़ में फंसा हुआ था, आपने हाथ पकड़कर उससे उबार लिया है। अब अनुग्रह कर आप सदा ही अपने आनंद-विहार में मुझे अपने साथ ही रखें, यही मेरी प्रार्थना है।'

भगवान बुद्ध ने सुंदरानंद के मस्तक पर अपना वरदहस्त रखा। इससे जीवन में पहली बार उसे शांति मिली, अमृत के घूंट मिले और परम तृप्ति का अनुभव हुआ। ❖

धर्म के द्वारा अभ्युदय सिद्ध होता है। अर्थात् 'धर्मादर्थश्च कामश्च'—धर्म के द्वारा अर्थ-पुरुषार्थ सिद्ध होता है, काम-पुरुषार्थ सिद्ध होता है और धर्म के द्वारा मोक्ष-पुरुषार्थ सिद्ध होता है। यह जो एक धर्म-तत्त्व है यह हमारे अभ्युदय को सिद्ध करता है। अर्थात् हमारी सारी संभावनाओं को उत्कर्ष की तरफ ले जाता है और इस ढंग से ले जाता है कि हम निःश्रेयस की तरफ निरंतर बढ़ते चले जाते हैं। क्योंकि जो निःश्रेयस या मोक्ष-पुरुषार्थ है वह किसी देश में अटका हुआ नहीं है, किसी काल में बंधा हुआ नहीं है, वह हमारी निजता है, वह हमारी तथता है, हमारी वास्तविकता है, हमारी पूर्णता है। मोक्ष को यदि अलग कर दिया तो इसका मतलब सब-कुछ कटा हुआ हो जाएगा, सब-कुछ बंटा हुआ हो जाएगा, टूटा हुआ हो जाएगा। धर्म के द्वारा अभ्युदय की सिद्धि—इसके ऊपर थोड़ा मनन करना चाहिए। इसलिए हमारे शास्त्र ने कहा—मनुष्य सर्वप्रथम अपने-आप को स्वीकारे, कि वह क्या है? वह कामनाओं को लेकर ही जन्म लेता है। कामनाओं सहित उसका जन्म होता है। इस बात को शास्त्र जानते हैं। इसलिए शास्त्र ने कामनापूर्ति का मार्ग बता दिया कि किस प्रकार से कामनाओं की पूर्ति करे। धर्म कामनापूर्ति का मार्ग है।

—संवित् सोमगिरि

With best compliments from :

KOTHARI METALS LTD.

website : www.kotharimetal.com

SPECIALISTS IN NON FERROUS METALS

Head Office :

'Lords', 7/1 Lord Sinha Road, 5th Floor
Kolkata 700071

Phone : (033) 22828532/8534/7949 ı Fax : (033) 22828462
e-mail : vikashji@cal2.vsnl.net.in

Branches at :

Delhi • Mumbai • Gurgaon • Bhiwadi (Rajasthan)
• Ludhiana (Punjab)

जैन भारती, दिसंबर, 2005 ■ भारत सरकार पं. सं. : 2643/57 ■ डाक पं. सं. : आर जे/डब्ल्यू आर /11/48/03-05
'Licensed to Post without Pre-Payment' Under Licence No. RJ/WR/PP/Bikaner13/2004

Your Partner in Progress

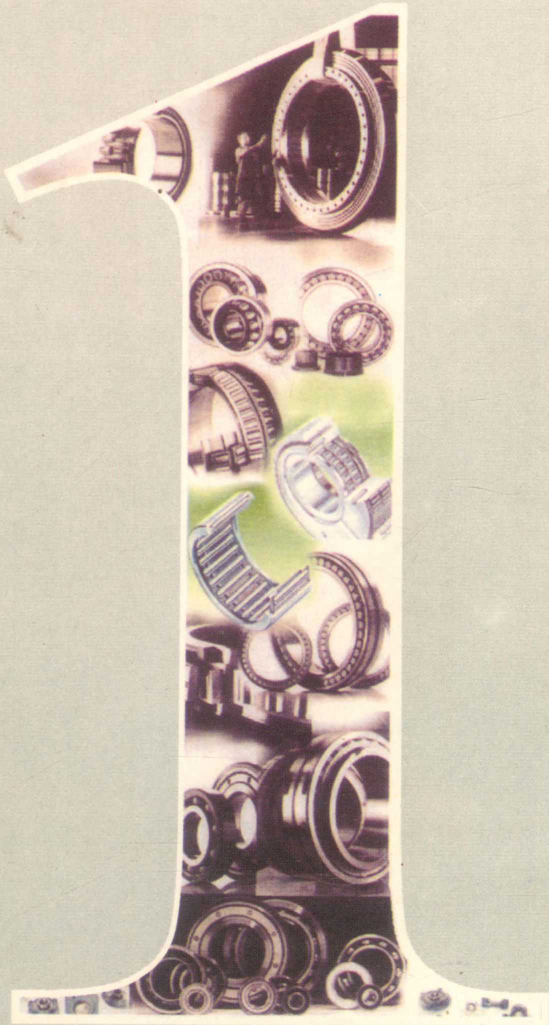

India's No. 1 Company for Bearing Distribution and Shaft solution

INA
Authorised Distributor

Premier (India) Bearings Ltd.
407 & 413 Marshall House, 4th Floor, 25, Strand Road, Kolkata - 700001
Phone : 2220 0640/1926, Fax : (033) 2248 5745
E-mail : pibl@vsnl.com

FAG Star Distributor

Our Branches Office : • Chennai • Mumbai • Chandigarh • Gurgaon • Kochi • Ludhiana

Website : http://www.mahadealer.com

तरुण सेठिया, जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता-1 के लिए जैन भारती कार्यालय, गंगाशहर, बीकानेर (राज.) से प्रकाशित एवं सांखला प्रिण्टर्स, बीकानेर द्वारा मुद्रित।